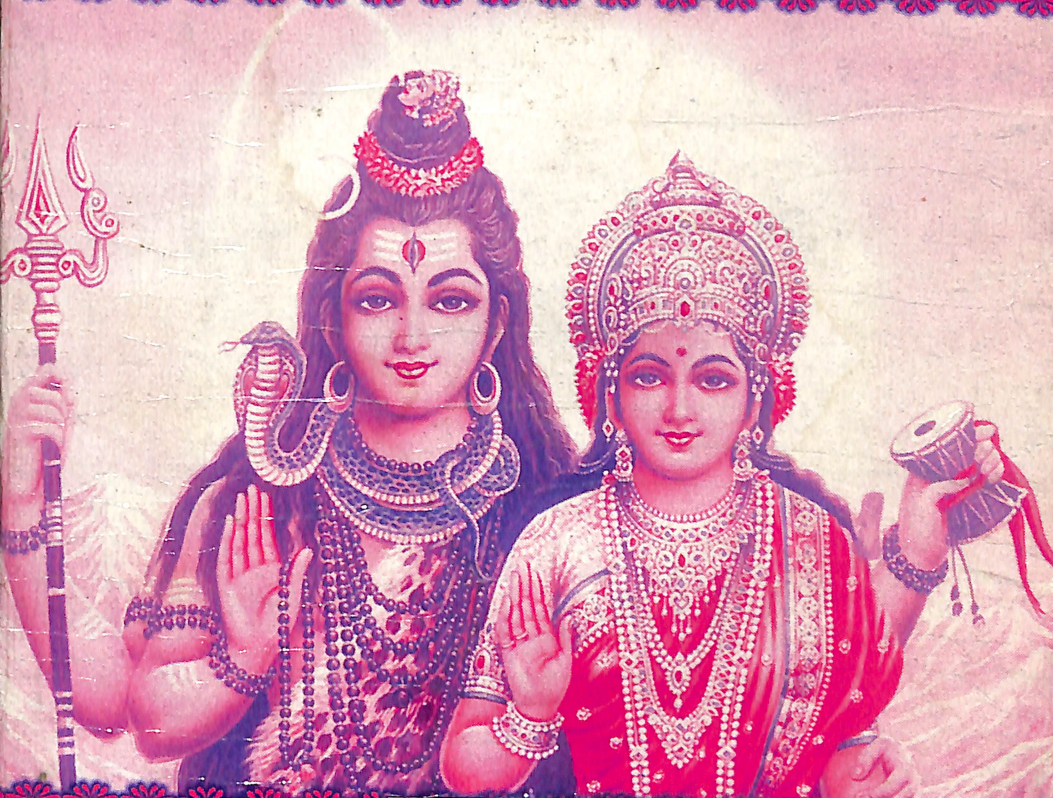
बिट्ठलदास संस्कृत सीरीज ९

शिव संहिता

'हरि' हिन्दी व्याख्या सहित



सम्पादक एवं व्याख्याकार

पं. हरिहरप्रसाद त्रिपाठी

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

बिट्ठलदास संस्कृत सीरीज

१

शिव संहिता

'हरि' हिन्दी व्याख्या सहित

सम्पादक एवं व्याख्याकार

पं० हरिहरप्रसाद त्रिपाठी

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक : चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, संवत् २०६३, सन् २००६
मूल्य : रू० ६०.००

ISBN : 81-218-0211-3

पुस्तक-प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बॉक्स नं० ११९८, के. ३७/११८,
गोपाल मन्दिर लेन, गोलघर (मैदागिन) के पास
वाराणसी - २२१००१ (भारत)
फोन : २३३५०२०
Fax : 0542-2333458
e-mail : cssoffice@satyam.net.in
Web-site : www.chowkhambasanskritseries.com

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
(गोपाल मंदिर के उत्तरी फाटक पर)
पोस्ट बॉक्स नं० १००८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : (आफिस) (०५४२) २३३३४५८, आवास : २३३५०२०, २३३४०३२
Fax : 0542-2333458
Web-site : www.chowkhambasanskritseries.com

BITTHALDAS SANSKRIT SERIES
9

ŚIVA SAṀHITA

with

'Hari' Hindi Commentary

By

Pt. Hariharprasad Tripathi

CHOWKHAMBA KRISHNADAS ACADEMY
VARANASI

Publisher : Chowkhamba Krishnadas Academy, Varanasi,
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi.

ISBN : 81-218-0211-3

Oriental Publishers & Distributors
K.37/118, Gopal Mandir Lane
P.Box. No. 1118, Varanasi-221001 (India)
Phone : (0542) 2335020
Fax : 0542-2333458
e-mail : cssoffice@satyam.net.in
Web-site : www.chowkhambasanskritseries.com

Also can be had from :
Chowkhamba Sanskrit Series Office
K.37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
At the North Gate of Gopal Mandir
P. Box. No. 1008, Varanasi-221001 (India)
Phone : Office : (0542) 2333458, **Res.** : 2334032 & 2335020
Fax : 0542-2333458
e-mail : cssoffice@satyam.net.in
Web-site : www.chowkhambasanskritseries.com

अनेक ग्रन्थों के लेखक, सम्पादक एवं व्याख्याकार



पं० हरिहरप्रसाद त्रिपाठी

प्राक्कथन

प्राचीन यौगिक ग्रन्थों के अन्तर्गत 'शिव संहिता' का भी अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है। इसमें योगसाधना की दश प्रमुख मुद्राओं का वर्णन सरल हिन्दी में विस्तारपूर्वक किया गया है। इसके द्वारा योग-जिज्ञासुओं की जिज्ञासा-पूर्ति समुचित रूप से हो सकती है। इस ग्रन्थ में कुल पाँच पटल दिये गये हैं जिसमें प्रथम पटल में आत्मा का लयत्व वर्णन, द्वितीय पटल में तत्त्वज्ञानोपदेश, तृतीय पटल में योगाभ्यास कथन, चतुर्थ पटल में मुद्रावर्णन और पंचम पटल में योगसाधना कथन नामक शीर्षक से योग साधक के सभी विघ्नों का विस्तृत निरूपण किया गया है। अतः योगसाधकों के लिए यह पुस्तक सभी दृष्टियों से परमोपयोगी सिद्ध होगी। ग्रन्थोक्त विधियों का अनुपालन करने से योगाभ्यासी निश्चय ही अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल हो सकता है।

ऐसी दुर्लभ एवं उपयोगी पुस्तक के प्रकाशनार्थ इसके प्रकाशक महोदय भी धन्यवाद के पात्र हैं।

हरिहरप्रसाद त्रिपाठी

सी.के. ५८/३५, रेशम कटरा

वाराणसी- २२१००१

—

विषयानुक्रमणी

◆

शिव-वन्दना

नागेन्द्रहाराय त्रिलोचनाय, भस्माङ्गरागाय महेश्वराय ।
नित्याय शुद्धाय दिगम्बराय, तस्मै 'न' काराय नमः शिवाय ।।१।।
मन्दाकिनी सलिल चन्दनचर्चिताय नन्दीश्वर प्रमथनाथ महेश्वराय ।
मन्दार पुष्प बहुपुष्प सुपूजिताय तस्मै 'म' काराय नमः शिवाय ।।२।।

भावार्थ—जिनके गले में सर्पों का हार विभूषित है, जो त्रिनेत्रधारी हैं, भस्म ही जिनके शरीर का अंगराज (उबटन) है, जो दिगम्बर हैं यानी समस्त दिशाएँ ही जिनके वस्त्र हैं उन विशुद्ध अविनश्वर महेश्वर 'न' कार स्वरूप शिवजी को मेरा प्रणाम है। जिनका पूजन-अर्चन गंगाजल और चंदन से हुआ है, मन्दार तथा अन्य प्रकार के सुन्दर पुष्पों से जिनकी पूजा हुई हैं, उन नन्दीश्वर प्रमथगणनायकों के स्वामी महेश्वर 'म' काररूप शिवजी को मेरा नमस्कार है ॥१-२॥

शिवाय गौरीवदनाब्जवृन्द सूर्याय दशाध्वरनाशकाय ।
श्रीनीलकण्ठाय वृषध्वजाय ।
तस्मै 'शि' काराय नमः शिवाय ।।३।।
वसिष्ठ कुम्भोद्भवगौतमार्य मुनीन्द्र देवार्चित शेखराय ।
चन्द्रार्कवैश्वानरलोचनाय तस्मै 'व' काराय नमः शिवाय ।।४।।

भावार्थ—जिनका स्वरूप कल्याणकारी है, जो हिमतनया पार्वतीजी के मुख-कमल को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं, जो दक्ष प्रजापति के यज्ञ-विध्वंसक हैं, जिनकी पताका में वृषभ का चिह्न अंकित है, उन शोभावान नीलकण्ठ 'शि' कार स्वरूप शिवजी की मैं वन्दना करता हूँ।

वसिष्ठ, अगस्त्य और गौतमादि मुनिश्रेष्ठों तथा इन्द्रादि देवगणों ने जिनके मस्तक की पूजा-अर्चना की है, जिनके नेत्रद्वय चन्द्र एवं सूर्य के समान हैं, उन 'व' काररूप शिवजी को मेरा प्रणाम है ॥३-४॥

यक्षस्वरूपाय जटाधराय पिनाकहस्ताय सनातनाय ।
दिव्याय देवाय दिगम्बराय तस्मै 'य' काराय नमः शिवाय ।।५।।

भावार्थ—जो यक्षरूपधारी तथा जटाधारी हैं, जो अपने हाथ में पिनाक नामक धनुष धारण किये हुए हैं तथा जो दिव्य शाश्वत पुरुष हैं, उन दिगम्बर देव 'य' कारस्वरूप शिवजी को मेरा नमस्कार है ॥५॥

॥ ॐ नमः शिवाय ॥

शिव संहिता

***

प्रथम पटलः

आत्मा का लयत्व वर्णन

एकं ज्ञानं नित्यमाद्यन्तशून्यं नान्यत् किंचिद्वर्तते वस्तु सत्यम् ।
यद्भेदोस्मिन्निन्द्रियोपाधिना वै ज्ञानस्यायं भासते नान्यथैव ।।१।।

इस नश्वर जगत में एकमात्र ज्ञान ही शाश्वत और आदि-अन्त से रहित होता है। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु जगत में विद्यमान नहीं है। संसार में इन्द्रियोंपाधि द्वारा जो कुछ भी भिन्न-भिन्न रूपों में भासित होता है वह केवल ज्ञान का ही आलोक है। अर्थात् ज्ञान से परे कुछ भी नहीं है ॥१॥

अथ भक्तानुरक्तोऽहं वक्ष्ये योगानुशासनम् ।
ईश्वरः सर्वभूतानामात्ममुक्तिप्रदायकः ।।२।।
त्यक्त्वा विवादशीलानां मतं दुर्ज्ञानहेतुकम् ।
आत्मज्ञानाय भूतानामनन्यगतिचेतसाम् ।।३।।

मैंने भक्तों पर अनुग्रह करने के अभिप्राय से इस योगानुशासन का कथन किया है। समस्त प्राणियों का आत्म परमेश्वर ही केवल मोक्षप्रदायक होता है। सभी विवादास्पद मतों और दुर्ज्ञान के मूलभूत कारणों का परित्याग करके आत्मज्ञान का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। समस्त जीवों के हितार्थ यही अनन्य गति है ॥२-३॥

सत्यं केचित् प्रशंसन्ति तपः शौचं तथापरे ।
क्षमां केचित्प्रशंसन्ति तथैव सममार्ज्जवम् ।।४।।
केचिद्दानं प्रशंसन्ति पितृकर्म तथापरे ।
केचित् कर्म प्रशंसन्ति केचिद्वैराग्यमुत्तमम् ।।५।।

कुछ लोग सत्य की सराहना करते हैं तो कुछ लोग तपश्चर्या की। इसके विपरीत कुछ व्यक्ति शुद्धाचरण, क्षमाशीलता, सरलता तथा सभी जीवों में समत्व की भावना रखना ही श्रेयस्कर समझते हैं। किन्तु कोई-कोई दानशीलता, पितृ कर्मानुष्ठान (तर्पण, श्राद्धादि कर्म) तथा सगुणोपासना के प्रशंसक हुआ करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ मनुष्य मोह-माया से विरत होकर मन में वैराग्य धारण करना ही श्रेष्ठ मानते हैं ॥४-५॥

केचिद्गृहस्थकर्माणि प्रशंसन्ति विचक्षणाः ।
अग्निहोत्रादिकं कर्म तथा केचित्परं विदुः ।।६।।
मन्त्रयोगं प्रशंसन्ति केचित्तीर्थानुसेवनम् ।
एवं बहूनुपायांस्तु प्रवदन्ति विमुक्तये ।।७।।

कुछ बुद्धिमान पुरुष गार्हस्थ्य धर्म तथा अग्निहोत्र कर्म (आवासस्थल में निरन्तर अग्नि जलाये रखना) के प्रशंसक होते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार मन्त्रजाप तथा तीर्थस्थान का भ्रमण करना ही मोक्ष का कारण बनता है। इस प्रकार अपने-अपने अभिमत के अनुसार लोगों ने मुक्ति के अनेक साधन बतलाये हैं ॥६-७॥

एवं व्यवसिता लोके कृत्याकृत्यविदो जनाः ।
व्यामोहमेव गच्छन्ति विमुक्ताः पापकर्मभिः ॥८॥
एतन्मतावलम्बी यो लब्ध्वा दुरितपुण्यके ।
भ्रमतीत्यवशः सोऽत्र जन्ममृत्युपरम्पराम् ॥९॥

इसी भाँति विधिनिषेध कर्मों (करणीय-अकरणीय कर्म) के मर्मज्ञ व्यक्ति पापकर्मों से विमुख रहकर भी माया के भ्रमजाल में पड़े रहकर पाप-पुण्य के अनुष्ठानरूप उक्त मतों का सहारा लेते रहते हैं, जिसके फलस्वरूप अनुष्ठानकर्ता बार-बार आवागमन के चक्रव्यूह में फँसकर संसार में परिभ्रमित होता रहता है। अर्थात् अभिप्राय यह है कि शुभ कार्यों के सम्पादन से चित्त का शुद्धिकरण तो सम्भव हो जाता है किन्तु मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होना कदापि सम्भव नहीं होता ॥८-९॥

अन्यैर्मतिमतां श्रेष्ठैर्गुप्तालोकनतत्परैः ।
आत्मानो बहवः प्रोक्ता नित्याः सर्वगतास्तथा ॥१०॥
यद्यत्प्रत्यक्षविषयं तदन्यन्नास्ति चक्षते ।
कुतः स्वर्गादयः सन्तीत्यन्ये निश्चितमानसाः ॥११॥
ज्ञानप्रवाह इत्यन्ये शून्यं केचित्परं विदुः ।
द्वावेव तत्त्वं मन्यन्तेऽपरे प्रकृतिपुरुषौ ॥१२॥

कुछेक विद्वान गुप्तशास्त्रों में अध्ययनरत रहने को ही उत्तम मानते हैं, किन्तु कुछ मनुष्यों की ऐसी अवधारणा होती है कि आत्मा ही शाश्वतस्वरूप है और वह सर्वत्र गमनशील भी है। प्रत्यक्षवादियों के मतानुसार इस जगत में दिखायी पड़ने वाली वस्तुएँ ही केवल सत्य हैं, शेष सभी मिथ्या हैं। वे निश्चयतापूर्वक यही कहते हैं कि इस पृथिवी के अतिरिक्त स्वर्गादि लोक नहीं होते। कुछ विद्वानों का ऐसा अभिमत है कि प्रवहमान ज्ञानधारा ही सब कुछ है। उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। शून्यवादियों का मानना है कि जगत में शून्य के सिवाय दूसरा कुछ नहीं है। कोई-कोई प्रकृति और पुरुष को तत्त्वरूप में समझते हैं ॥१०-१२॥

अत्यन्तभिन्नमतयः परमार्थपराङ्मुखाः ।
एवमन्ये तु संचिन्त्य यथामति यथाश्रुतम् ॥१३॥
निरीश्वरमिदं प्राहुः सेश्वरं च तथापरं ।
वदन्ति विविधैर्भेदैः सुयुक्त्यास्थितिकातराः ॥१४॥

परमार्थविरोधी मनुष्यों की मति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हुआ करती है और उसी

मति का आश्रय लेकर वे कर्मों में निरत रहा करते हैं। जहाँ कुछ लोग ईश्वरीय सत्ता को नहीं मानते, वहीं कुछ व्यक्ति समस्त जगत को ईश्वरमय देखते हैं। इस प्रकार अनेक लोग अनेक प्रकार के मतों का कथन करते तथा अपने-अपने मत पर अटल रहकर कार्य करते हैं ॥१३-१४॥

एते चान्ये च मुनयः संज्ञाभेदाः पृथग्विधाः ।
शास्त्रेषु कथिता ह्येते लोकव्यामोहकारकाः ॥१५॥
एतद्विवादशीलानां मतं वक्तुं न शक्यते ।
भ्रमन्त्यस्मिन् जनाःसर्वे मुक्तिमार्गबहिष्कृताः ॥१६॥

इस प्रकार अनेक ऋषि-मुनियों ने विविध प्रकार के मत-मतान्तरों का प्रतिपादन शास्त्रों में किया है, किन्तु ऐसे शास्त्र मानव को भ्रम में डाल दिया करते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य ग्राह्य-अग्राह्य मतों का विश्लेषण नहीं कर पाता। फलतः वह जीवन-पर्यन्त भ्रमित होकर भटकता रहता है और मोक्षमार्ग तक नहीं पहुँच पाता। ऐसे विवादी पुरुषों का मत वर्णन करने में मैं सर्वथा ही अपने को असमर्थ पाता हूँ। अर्थात् प्राणी मुक्तिमार्ग की राह छोड़कर व्यर्थ ही इतस्ततः भटकता फिरता है ॥१५-१६॥

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं परं मतम् ॥१७॥
यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम् ।
तस्मिन् परिश्रमः कार्यः किमन्यच्छास्त्रभाषितम् ॥१८॥

समस्त शास्त्रावलोकन के पश्चात् यही विचार दृढ़ीभूत होता है कि योगशास्त्र ही एकमात्र परमश्रेष्ठ मत है, क्योंकि बार-बार विचारने पर यही बात सिद्ध होती है। इस विषय में ज्ञानोपलब्धि होने पर इसके लिए परिश्रम करना उचित तथा आवश्यक है। जब इसके अतिरिक्त अन्य शास्त्र निरुद्देश्य सिद्ध होते हैं तो उन शास्त्रों में ज्ञानप्राप्ति हेतु किया जाने वाला परिश्रम भी व्यर्थ ही है ॥१७-१८॥

योगशास्त्रमिदं गोप्यमस्माभिः परिभाषितम् ।
सुभक्ताय प्रदातव्यं त्रैलोक्ये च महात्मने ॥१९॥

देवी पार्वती से शिवजी कहते हैं कि मेरे द्वारा कथित यह योगशास्त्र अत्यन्त गोपनीय है। अतः इसे त्रैलोक्य में ऐसे व्यक्ति को बतलाना चाहिए जो ईश्वरभक्तिपरायण और सन्त हो ॥१९॥

कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डमिति वेदो द्विधा मतः ।
भवति द्विविधो भेदो ज्ञानकाण्डस्य कर्मणः ॥२०॥
द्विविधः कर्मकाण्डः स्यान्निषेधविधिपूर्वकः ।
निषिद्धकर्मकरणे पापं भवति निश्चितम् ।
विधिना कर्मकरणे पुण्यं भवति निश्चितम् ॥२१॥

वेद के दो भाग किये गये है, जिसमें पहला कर्मकाण्ड और दूसरा ज्ञानकाण्ड है। इनमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के भी दो-दो भाग कर दिये गये हैं। कर्मकाण्ड भी निषेधित और विधिक भेदानुसार दो प्रकार का कहा गया है। निषिद्ध कर्म करने से मनुष्य अवश्य ही पातकी कहलाता है तथा विधिक कर्म करने के फलस्वरूप वह निश्चय ही पुण्यलाभ का भागी बनता है ॥२०-२१॥

त्रिविधो विधिकूटः स्यान्नित्यनैमित्यकाम्यतः ।
नित्येऽकृते किल्बिषं स्यात्काम्ये नैमित्तिके फलम् ।।२२।।

विधिक कर्म तीन प्रकार के माने जाते हैं, जैसे— नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म और सकाम कर्म। नित्यकर्म वह है जिसके अन्तर्गत प्रतिदिन देवार्चन तथा सन्ध्या-वन्दन करने का विधान है। नैमित्तिक कर्म वह है जिसे किसी विशिष्ट पर्वकाल (ग्रहण आदि) अथवा किसी तीर्थस्थान के जलाशय में मार्जन, स्नान-दानादि के द्वारा किया जाता है, किन्तु सकाम कर्म फलप्राप्ति के उद्देश्य से सम्पन्न किये जाते हैं ॥२२॥

द्विविधं तु फलं ज्ञेयं स्वर्गं नरकमेव च ।
स्वर्गे नानाविधं चैव नरके च तथा भवेत् ।।२३।।
पुण्यकर्मणि वै स्वर्गो नरकं पापकर्मणि ।
कर्मबन्धमयी सृष्टिर्नान्यथा भवति ध्रुवम् ।।२४।।

कर्मफल की प्राप्ति दो रूपों में हुआ करती है। एक है स्वर्गभोग और दूसरा है नरकभोग। ये दोनों ही अनेक प्रकार के कहे जाते हैं। इस जीव द्वारा पुण्यकार्य किये जाने पर स्वर्ग-सुख की प्राप्ति तथा पापकर्म के करने से नरकवास के कष्टों को भुगतना पड़ता है। यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध है। यह सम्पूर्ण जगत ही कर्म-बन्धन में बँधा हुआ है। अर्थात् मर्त्यलोक में शरीर धारण करने पर मानव द्वारा जाने-अनजाने पाप-पुण्य कर्म होते ही रहते हैं, किन्तु उन शुभाशुभ कर्मों का पूर्ण फल जब तक भुगत नहीं लिया जाता तब तक सांसारिक आवागमन से मुक्ति नहीं मिलती, जैनदर्शन में भी इसी मत का प्रतिपादन किया गया है ॥२३-२४॥

जन्तुभिश्चानुभूयन्ते स्वर्गे नानासुखानि च ।
नानाविधानि दुःखानि नरके दुःसहानि वै ।।२५।।
पापकर्मवशाद्दुःखं पुण्यकर्मवशात्सुखम् ।
तस्मात्सुखार्थी विविधं पुण्यं प्रकुरुते ध्रुवम् ।।२६।।

इस जीव को स्वर्गलोक की प्राप्ति होने पर उसे नाना प्रकार के सुखों का उपभोग करना पड़ता है, किन्तु नरकगामी होने पर उसे अनेक प्रकार के कठोर दुःखों की यातना भी सहनी पड़ती है। अर्थात् पापकर्मों के द्वारा दुःख तथा पुण्यकर्मों के द्वारा सुखोपलब्धि होती है। अतएव सुखाभिलाषी व्यक्ति सदैव पुण्यकर्म में ही तत्पर रहा करते हैं ॥२५-२६॥

पापभोगावसाने तु पुनर्ज्जन्म भवेत्खलु ।
पुण्यभोगावसाने तु नान्यथा भवति ध्रुवम् ।।२७।।
स्वर्गेऽपि दु:खसम्भोगः परस्त्रीदर्शनाद्ध्रुवम् ।
ततो दु:खमिदं सर्वं भवेन्नास्त्यत्र संशयः ।।२८।।

जिस प्रकार पापफल का भोग भुगत लेने पर जीव का इस संसार में पुनरावर्तन होता है उसी प्रकार पुण्यफल भोग लेने के पश्चात् पुण्यात्मा जीव को भी पुनर्जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार जन्म-मरण का चक्र बराबर घूमता रहता है। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो स्वर्ग भी दु:ख का ही एक स्थान है, क्योंकि स्वर्ग में पहुँचकर स्वर्गीय ललनाओं (अप्सराओं) के दर्शन तो होते हैं किन्तु उनकी प्राप्ति सम्भव नहीं होती जिसके कारण मानसिक क्लेश भोगने पड़ते हैं। अत: स्वर्गप्राप्ति भी दु:ख का ही कारण है। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं रखना चाहिए ॥२७-२८॥

तत्कर्म कल्पकैः प्रोक्तं पुण्यपापमिति द्विधा ।
पुण्यपापमयो बन्धो देहिनां भवति क्रमात् ।।२९।।
इहामुत्र फलद्वेषी सकलं कर्म संत्यजेत् ।
नित्यनैमित्तिके सङ्गं त्यक्त्वा योगे प्रवर्तते ।।३०।।

सुविज्ञ पुरुषों ने पाप-पुण्य के रूप में दो प्रकार के कर्मों की परिकल्पना की है। उन्हीं पाप-पुण्य के कर्मानुसार शरीर आबद्ध है जिसके परिणामस्वरूप जीव को संसार में बार-बार जन्म लेना पड़ता है। मनुष्य को इहलोक तथा परलोक के फलों एवं नित्य-नैमित्तिक फलों की इच्छा का परित्याग कर केवल योगाभ्यास की साधना में निरत रहना ही मोक्षप्राप्ति का कारण बनता है ॥२९-३०॥

कर्मकाण्डस्य माहात्म्यं ज्ञात्वा योगी त्यजेत्सुधीः ।
पुण्यपापद्वयं त्यक्त्वा ज्ञानकाण्डं प्रवर्तते ।।३१।।
आत्मा वा रे च श्रोतव्यो मंतव्य इति यच्छ्रुतिः ।
सा सेव्या तत्प्रयत्नेन मुक्तिदा हेतुदायिनी ।।३२।।

कर्मकाण्ड की महत्ता को जान लेने के पश्चात् पाप-पुण्य के कर्मों का परित्याग कर योगसाधना में प्रवृत्त होना चाहिए। श्रुतियों का कथन है कि आत्मा ही श्रवणीय और मननीय है। आत्मा ही मुक्तिप्रदायिनी और सभी की उत्पन्नकर्त्री है। अत: प्राणी को चेष्टापूर्वक आत्मा का सेवन करना ही उचित है ॥३१-३२॥

दुरितेषु च पुण्येषु यो धीवृत्तिं प्रचोदयात् ।
सोऽहं प्रवर्तते मत्तो जगत्सर्वं चराचरम् ।।३३।।
सर्वं च दृश्यते मत्तः सर्वं च मयि लीयते ।
न तद्भिन्नोऽहमस्मिन्नो यद्भिन्नो न तु किंचन ।।३४।।

जिस बुद्धि के कारण पाप-पुण्य, इन दोनों में समान रूप से प्रेरणा मिलती है,

'वह मैं ही हूँ'—मुझसे ही इस जगत की उत्पत्ति होती है। यह समस्त दृश्यमान जगत मैं ही हूँ। यह सब मुझसे ही उत्पन्न होता और मेरे में ही विलीन हो जाता है। मैं किसी से भिन्न नहीं हूँ और न मुझसे ही कुछ भिन्न है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जग़त को इसी भावना से देखना और समझना योगाभ्यासी के लिए आवश्यक है ॥३३-३४॥

जलपूर्णेष्वसंख्येषु शरावेषु यथा भवेत् ।
एकस्य भात्यसंख्यत्वं तद्भेदोऽत्र न दृश्यते ।।३५।।
उपाधिषु शरावेषु या संख्या वर्तते परा ।
सा संख्या भवति यथा रवौ चात्मनि तत्तथा ।।३६।।

जिस प्रकार जल से परिपूरित घड़े में एक ही सूर्य के अनेक प्रतिविम्ब भासित होते हैं, किन्तु यथार्थतः वे अनेक न होकर केवल एक ही होते हैं। उनमें अनेकता का आभास तो मिट्टी के घड़े और उनकी संख्याओं के कारण होते हैं। उसी प्रकार यह दृश्यमान जगत भी एकात्म होते हुए भी अनेक रूपों में परिलक्षित हुआ करता है। यथार्थ में परब्रह्म भी एक ही होता है ॥३५-३६॥

यथैकः कल्पकः स्वप्ने नानाविधतयेष्यते ।
जागरेऽपि तथाप्येकस्तथैव बहुधा जगत् ।।३७।।
सर्पबुद्धिर्यथा रज्जौ शुक्तौ वा रजतभ्रमः ।
तद्वदेवमिदं विश्वं विवृतं परमात्मनि ।।३८।।

जिस प्रकार स्वप्नावस्था में मानव-मन में अनेक प्रकार की परिकल्पनाएँ उठती रहती हैं, किन्तु नींद खुल जाने पर कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार मायाग्रस्तता के फलस्वरूप जगत भी अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है। पुनः माया का आवरण हट जाने पर केवल एक ब्रह्म ही शेष रह जाता है। जिस प्रकार रस्सी में साँप और सीप में चाँदी का बोध होता है उसी भाँति परब्रह्म में माया के आवरण से जगत का भ्रम उत्पन्न होता है ॥३७-३८॥

रज्जुज्ञानाद्यथा सर्पो मिथ्यारूपो निवर्तते ।
आत्मज्ञानात्तथा याति मिथ्याभूत मिदं जगत् ।।३९।।
रौप्यभ्रान्तिरियं यांति शुक्तिज्ञानाद् यथा खलु ।
जगद्भ्रान्तिरियं यांति चात्मज्ञानाद्यथा तथा ।।४०।।

किन्तु जिस समय रस्सी के वास्तविक रूप का ज्ञान हो जाता है उस समय सर्प का मिथ्या ज्ञान दूर हो जाता है, उसी प्रकार आत्म ज्ञानोदय होने पर मिथ्या जगत की बुद्धि नहीं रह जाती। इसी भाँति जब मन में यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि यह वस्तुतः सीप है तो उसमें चाँदी के होने वाला भ्रम नहीं रहता। इसी प्रकार आत्मबोध हो जाने पर संसार का भ्रम दूर हो जाता है ॥३९-४०॥

यथा रज्जूरगभ्रान्तिर्भवेद्भेदवशाज्जगत् ।।४१।।
तथा जगदिदं भ्रान्तिरध्यासकल्पनाजगत् ।
आत्मज्ञानाद्यथा नास्ति रज्जुज्ञानाद्भुजङ्गमः ।।४२।।

जिस प्रकार रस्सी को साँप समझ लेने का मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार संसार भी अज्ञान के वशीभूत है अर्थात् जगत् में विभिन्नता के रूप में होने वाला भ्रम भी रस्सी में साँप होने के भ्रम के सदृश ही होता है । यह केवल सांसारिक कल्पना ही होती है, इसमें रंचमात्र भी सत्यता नहीं रहती । किन्तु रज्जुज्ञान की तरह आत्मज्ञान के उदय होते ही मिथ्या जगत की प्रतीति नहीं होती ॥४१-४२॥

यथा दोषवशाच्छुक्लः पीतो भवति नान्यथा ।
अज्ञानदोषादात्मापि जगद्भवति दुरस्त्यजम् ।।४३।।
दोषनाशे यथा शुक्लो गृह्यते रोगिणा स्वयम् ।
शुक्लज्ञानात्तथाज्ञाननाशादात्मा तथा कृतः ।।४४।।

जिस प्रकार पित्तविकार के कारण पाण्डुरोग (कामला रोग) हो जाने से शरीर का वर्ण पीला दिखाई देता है उसी प्रकार ज्ञानदोष के फलस्वरूप यह आत्मा भी मिथ्या जगत के रूप में जान पड़ने लगता है । इस प्रकार की अज्ञानता सहज ही नहीं मिट पाती । अज्ञान के नाश होने पर शुद्ध ब्रह्म का बोध उसी प्रकार होने लगता है जिस प्रकार पित्तविकार के नष्ट होने पर शरीर का वर्ण भी श्वेत हो जाता है । तात्पर्य यह है कि अज्ञानरूप रोग का शमन आत्मज्ञानरूप औषध सेवन से ही सम्भव हो पाता है ॥४३-४४॥

कालत्रयेऽपि न यथा रज्जुः सर्पो भवेदिति ।
तथात्मा न भवेद्विश्वं गुणातीतो निरञ्जनः ।।४५।।
आगमाऽपायिनोऽनित्या नाश्यत्वे नेश्वरादयः ।
आत्मबोधेन केनापि शास्त्रादेतद्विनिश्चितम् ।।४६।।

यह बात निश्चित रूप से सत्य है कि तीनों कालों में (भूत, वर्तमान एवं भविष्य) रस्सी कभी भी सर्परूप में परिवर्तित नहीं हो सकती, उसी प्रकार गुणातीत शुद्धात्मा भी कभी विश्वरूप में नहीं बदल सकता । आत्मज्ञान-सम्बन्धी शास्त्रों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि ईश्वर की उपाधि से युक्त इन्द्रादि देव भी अनित्य हैं अर्थात् उनका भी संसार में जन्म-मरण होता रहता है ॥४५-४६॥

यथा वातवशात्सिन्धावुत्पन्नाः फेनबुद्बुदाः ।
तथात्मनि समुद्भूतं संसारं क्षणभङ्गुरम् ।।४७।।
अभेदो भासते नित्यं वस्तुभेदो न भासते ।
द्विधात्रिधादिभेदोऽयं भ्रमत्वे पर्यवस्यति ।।४८।।

जिस प्रकार वायु के थपेड़ों से सागर में झाग उठते और बुलबुले उत्पन्न होते

रहते हैं तथा पुन: तत्क्षण ही उसमें समा जाते हैं, उसी प्रकार माया की उपाधि से विभूषित आत्मा के द्वारा नश्वर संसार की उत्पत्ति होती और पुन: उसी आत्मा में विलुप्त हो जाती है । आत्मा की विभेदता किसी पदार्थ या संसार से नहीं है, किन्तु उसमें भ्रमवश ही दो-तीन इत्यादि की प्रताति होती है । इस प्रकार के भ्रम के मिट जाने पर अनेकता का भेद नहीं रह जाता ।।४७-४८।।

यद्भूतं यच्च भाव्यं वै मूर्तामूर्ते तथैव च ।
सर्वमेव जगदिदं विवृतं परमात्मनि ।।४९।।
कल्पकैः कल्पिता विद्या मिथ्या जाता मृषात्मिका ।
एतान्मूलं जगदिदं कथं सत्यं भविष्यति ।।५०।।

संसार के मूर्त-अमूर्तं जो भी पदार्थ हैं वे सभी माया के आवरण से आत्मा द्वारा ही प्रकटित हुए हैं । यह समस्त जगत अविद्या का ही एक काल्पनिक रूप है जिसकी नींव ही असत्य पर आधारित हो वह स्वयं सत्य किस प्रकार से हो सकता है? ।।४९-५०।।

चैतन्यात् सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम् ।
तस्मात् सर्वे परित्यज्य चैतन्य तु समाश्रयेत् ।।५१।।
घटस्याभ्यन्तरे बाह्ये यथाकाशं प्रवर्तते ।
तथात्माभ्यन्तरे बाह्ये ब्रह्माण्डस्य प्रवर्तते ।।५२।।

इस सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति केवल चेतन आत्मा के द्वारा ही होती है । ऐसा जानकर चैतन्य आत्मा का आश्रय ग्रहण करना ही विहित माना जाता है । जिस प्रकार घट के अन्दर और बाहर आकाश परिव्याप्त रहा करता है उसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अन्तरंग और बहिरंग भाग में केवल एक आत्मा ही पूर्णतया परिव्याप्त रहती है ।।५१-५२।।

सततं सर्वभूतेषु यथाकाश प्रवर्तते ।
तथात्माभ्यंतरे बाह्ये ब्रह्माण्डस्य प्रवर्तते ।।५३।।
वर्तते सर्वभूतेषु यथाकाशं समन्ततः ।
तथात्माभ्यंतरे बाह्ये कार्यवर्गेषु नित्यशः ।।५४।।

जिस प्रकार चराचर जगत् में आकाश की परिव्याप्ति रहती है उसी प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड के अन्दर और बाह्य में आत्मा भी व्याप्त रहता है । अर्थात् जैसे आकाश सभी भूतों से समाविष्ट रहता है वैसे ही संसार के समग्र प्रादुर्भूत पदार्थों में आत्मा का समावेश रहता है ।।५३-५४।।

असंलग्न यथाकाशं मिथ्याभूतेषु पञ्चसु ।
असंलग्नस्तथात्मा तु कार्यवर्गेषु नान्यथा ।।५५।।
ईश्वरादिजगत्सर्वमात्मव्याप्तं समन्ततः ।
एकोऽस्ति सच्चिदानन्दः पूर्णो द्वैतविवर्जितः ।।५६।।

जिस प्रकार आकाश पंचभूतात्मक होते हुए भी उसमें सन्निहित नहीं रहता उसी भाँति आत्मा भी समस्त वस्तुओं में परिव्याप्त रहते हुए भी उसमें लिप्त न होकर पृथक् रूप से स्थित रहता है। अखिल विश्व में एक ही आत्मा परिव्याप्त है। वही एक आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप द्वैधीभाव से रहित है। अर्थात् वह अद्वैतरूप कहा गया है।।५५-५६।।

यस्मात्प्रकाशको नास्ति स्वप्रकाशो भवेत्ततः ।
स्वप्रकाशोयतस्तस्मादात्मा ज्योतिः स्वरूपकः ।।५७।।
अवच्छिन्नो यतो नास्ति देशकालस्वरूपतः ।
आत्मनः सर्वथा तस्मादात्मापूर्णो भवेत्खलु ।।५८।।

उस अद्वैत आत्मा को प्रकाशित करने वाला कोई नहीं होता, बल्कि वह अपनी प्रभा से ही प्रकाशमान रहता है। स्वयं प्रभावान होने के फलस्वरूप ही वह ज्योतिस्वरूप होता है। देश-काल के विचार से वह अवच्छिन्न नहीं है। अर्थात् उसमें न तो देश-कालादिकों के कोई नियम होते हैं और न ही संकुचन और विस्तरण के। अत: आत्मा सदैव ही अपने आप में परिपूर्ण रहता है।।५७-५८।।

यस्मान्न विद्यते नाशः पञ्चभूतैर्वृथात्मकैः ।
तस्मादात्मा भवेन्नित्यस्तन्नाशो न भवेत्खलु ।।५९।।
यस्मात्तदन्यो नास्तीह तस्मादेकोऽस्ति सर्वदा ।
यस्मात्तदन्योमिथ्यास्यादात्मासत्योभवेत्खलु ।।६०।।

पंचभूतों के नष्ट हो जाने पर भी इस आत्मा का विनाश नहीं होता, क्योंकि आत्मा सर्वदा ही आविनश्वर और अविकारी होता है। किसी भी अवस्था में आत्मा का नाश होना असम्भव है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी न होने पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आत्मा ही अद्वैतरूप है। इस प्रकार जब जगत में सभी पदार्थ असत्य हैं तो केवल शुद्धात्मा को ही सत्य माना जा सकता है।।५९-६०।।

अविद्या भूतसंसारे दुःखनाशे सुखं यतः ।
ज्ञानादाद्यंतशून्यं स्थात्तस्मादात्मा भवेत्सुखम् ।।६१।।
यस्मान्नाशितमज्ञानं ज्ञानेन विश्वकारणम् ।
तस्मादात्मा भवेत् ज्ञानं ज्ञानं तस्मात्सनातनम् ।।६२।।

सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति में एकमात्र कारण अविद्या को माना गया है। सांसारिक दु:खों के निवारण होने के पश्चात् सुखागमन माना जाता है। किन्तु दु:ख के आदि-अन्त का सम्बन्ध ज्ञान से नहीं रहता। ज्ञान के द्वारा ही अज्ञान का विनष्टीकरण हुआ करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि विश्व का मूलभूत कारण ज्ञान ही है। अत: आत्मा ही ज्ञानरूप, नित्य और शाश्वत है।।६१-६२।।

कालतो विविधं विश्वं यदा चैव भवेदिदम् ।
तदेकोऽस्ति स एवात्मा कल्पनापथवर्जितः ।।६३।।
बाह्यानि सर्वभूतानि विनाशं याति कालतः ।
तो वाचो निवर्त्तन्ते आत्मा द्वैतविवर्जितः ।।६४।।

कालानुसार अनेक रूपों वाले संसार की उत्पत्ति होती है, अत: वह एक प्रकार का आत्मा ही है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आत्मा कोई काल्पनिक वस्तु न होकर सत्यस्वरूप है । आत्मा से अलग जो भी पदार्थ होते हैं वे सभी समयानुसार नाश को प्राप्त हो जाया करते हैं । अत: आत्मा द्वैधीभाव से रहित है । उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता ॥६३-६४॥

न खं वायुर्न चाग्निश्च न जलं पृथिवी न च ।
नैतत्कार्यै नेश्वरादि पूर्णकात्मा भवेत्खलु ।।६५।।
आत्मानमात्मना योगी पश्यत्यात्मनि निश्चितम् ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी त्यक्तमिथ्याभवग्रहः ।।६६।।

आत्मा अकाशरहित होने के परिणामस्वरूप नि:शब्द, वायु के अभाव से स्पर्शहीन, अग्नि के अभाव से तेजहीन, जलविहीन होने के कारण रसहीन तथा पृथिवीतत्त्व के अभाव में गंधहीन भी है । वह कारण से रहित होने के फलस्वरूप कोई कार्य भी नहीं है और न तो ब्रह्मादि ईश्वर ही है । वह आत्मा अपने आप में पूर्णकाम है अर्थात् वह सभी कामनाओं से परे है । इस प्रकार आत्मा के द्वारा आत्मा को आत्मा में झाँककर देखने वाला ऐसा योगी जो सभी संकल्प-विकल्प का परित्याग कर देता है वही समाधिस्थ हो सकता है ॥६५-६६॥

आत्मनात्मनि चात्मानं दृष्ट्वानन्तं सुखात्मकम् ।
विस्मृत्य विश्वं रमते समाधेस्तीव्रतस्तथा ।।६७।।
मायैव विश्वजननी नान्या तत्त्वधिया परा ।
यदि नाश समायाति विश्वं नास्ति तदा खलु ।।६८।।

इस प्रकार का योगसाधक अपने आत्मा से आत्मा को आत्मा में देखता हुआ संसार को विस्मृत कर देता है और आनन्दस्वरूपा समाधि में तेजी से रमण करने लग जाता है । इस सम्पूर्ण जगत की जनयित्री माया को माना गया है, क्योंकि उसके द्वारा ही विश्वोत्पत्ति सम्भव है । इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है, यह बात सुनिश्चित है । अत: आत्मबोध होने पर इस नाशवान विश्व की पूर्णरूप से परिसमाप्ति हो जाती है ॥६७-६८॥

हेयं सर्वमिदं यस्य मायाविलसितं यतः ।
ततो न प्रीतिविषयस्तनुवित्तसुखात्मकः ।।६९।।
अरिर्मित्रमुदासीनस्त्रिविधं स्यादिदं जगत् ।

व्यवहारेषु नियतं दृश्यते नान्यथा पुनः ।
प्रियाप्रियादिभेदस्तु वस्तुषु नियतस्फुटम् ।।७०।।

यह समस्त मिथ्या जगत केवल माया का ही हास-विलास होता है । अत: इसे सुख का साधन न मानकर इसकी प्रीति से मुँह मोड़ लेना चाहिए । इस संसार में मुख्यत: तीन प्रकार के व्यवहार परिलक्षित होते हैं, जैसे—शत्रु, मित्र और उदासीन । इससे विलग अन्य कुछ भी नहीं है । यह समस्त संसार प्रियता-अप्रियता भेदरूप बन्धन में जकड़ा हुआ है ।।६९-७०।।

आत्मोपाधिवशादेवं भवेत् पुत्रादि नान्यथा ।।७१।।
मायाविलसितं विश्वं ज्ञात्वैवं श्रुतियुक्तितः ।
अध्यारोपापवादाभ्यां लयं कुर्वन्ति योगिनः ।।७२।।
कर्मजन्यं विश्वमिदं नत्वकर्मणि वेदना ।
निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः ।
तदा विजयतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः ।।७३।।

इस जगत में सभी पारिवारिक सम्बन्ध (पुत्र, कलत्रादि) आत्मा की उपाधि से ही सम्भव होते हैं । यह समस्त विश्व-प्रपंच माया के द्वारा विलसित है, ऐसा ज्ञान श्रुति-वाक्य से प्राप्त कर योगाभ्यासी अध्यारोप और अपवाद से आत्मविलीन रहते हैं । सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति-स्थिति का एकमात्र कारण कर्म ही होता है अर्थात् कर्म के द्वारा क्लेशादि उत्पन्न होते हैं । कर्म के अभाव में किसी प्रकार के दु:ख की सम्भावना नहीं रह जाती । जिस क्षण आत्मा माया की उपाधि को विजित कर मायाविहीन हो जाता है तभी उसे अखण्ड ज्ञानरूप विशुद्ध ब्रंह्म की प्रतीति होने लगती है ।।७१-७३।।

स हि कामयते पुरुषः सृजते च प्रजाः स्वयम् ।
अविद्या भासते यस्मात्तस्मान्मिथ्या स्वभावतः ।।७४।।
शुद्धे ब्रह्मणि सम्बद्धो विद्यया सहजो भवेत् ।
ब्रह्मतेजोंऽशतो याति तत आभासते नभः ।।७५।।

आत्मा अपनी इच्छा से स्वयं ही जीवों की सृष्टि करता है । ऐसी इच्छा अविद्या के फलस्वरूप उत्पन्न होती है और वह स्वभावत: मिथ्या होती है । इसका तात्पर्य यह है कि मिथ्या माया से आविर्भूत यह सृष्टि भी मिथ्या ही है । विद्या का सम्बन्ध शुद्ध ब्रह्म में होना स्वाभाविक है और उस ब्रह्म के तेजांश से ही आकाश-मण्डल का आविर्भाव हुआ है ।।७४-७५।।

तस्मात्प्रकाशते वायुर्वायोरग्निस्ततो जलम् ।
प्रकाशते ततः पृथ्वीकल्पनेयं स्थिता सति ।।७६।।
आकाशाद्वायुराकाशः पवनादग्निसम्भवः ।
खेवाताग्नेर्जलं व्योमवाताग्नेर्वारितो मही ।।७७।।

आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल के द्वारा पृथिवी की उत्पत्ति हुई, ऐसी कल्पना की गयी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आकाश से वायु तथा आकाश-वायु के सम्मिलन से अग्नि की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर आकाश, वायु अग्नि—इन तीनों के संयोग से जल एवं आकाश, वायु, अग्नि तथा जल के एकीकृत होने के परिणामस्वरूप पृथिवी का आविर्भाव हुआ ॥७६-७७॥

खं शब्दलक्षणं वायुश्चञ्चलः स्पर्शलक्षणः।
स्याद्रूपलक्षणं तेजः सलिलं रसलक्षणम् ॥७८॥
गंधलाणिका पृथिवी नान्यथा भवति ध्रुवम्।
विशेषगुणा स्फुरति यतः शास्त्रादिनिर्णयः ॥७९॥

आकाश में केवल एक शब्द गुण ही विद्यमान है, किन्तु वायु के दो गुण हैं। एक चपलता और दूसरा स्पर्शशीलता। अग्नि का गुण केवल रूप और जल का गुण रस होता है। पृथिवी में गन्ध का गुण होता है। इस प्रकार की निश्चयता में कुछ भी अन्यथा नहीं है। शास्त्रों के निर्णयानुसार ही पंचतत्त्वों में इन विशिष्ट गुणों का होना माना गया है ॥७८-७९॥

शब्दैकगुणमाकाशं द्विगुणो वायुरुच्यते।
तथैव त्रिगुणं तेजो भवन्त्यापश्चतुर्गुणाः ॥८०॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च।
एतत्पंचगुणा पृथ्वी कल्पकैः कल्प्यतेऽधुना ॥८१॥

इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि आकाश में केवल एक शब्द गुण, वायु में दो गुण, अग्नि में तीन और जल में चार गुण हुआ करते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पंचगुणों की वर्तमानता पृथिवी के द्वारा कल्पित की गयी है ॥८०-८१॥

चक्षुषा गृह्यते रूपं गन्धो घ्राणेन गृह्यते ॥८२॥
रसो रसनया स्पर्शस्त्वचा संगृह्यते परम्।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दो नियतं भाति नान्यथा ॥८३॥

चक्षुओं (नेत्रों) के द्वारा रूप का ग्रहण तथा घ्राण (नासिका) के द्वारा गन्ध का बोध, जिह्वा से रस का ग्रहण, त्वचा से स्पर्श का ज्ञान तथा कर्णेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण किया जाता है, यह नियम निश्चित और अकाट्य है ॥८२-८३॥

चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम्।
अस्ति चेत्कल्पनेयं स्यान्नास्ति चेदस्ति चिन्मयम् ॥८४॥
पृथ्वी शीर्णा जले मग्ना जलं मग्नं च तेजसि।
लीनं वायौ तथा तेजो व्योम्नि वातो लयं ययौ।
अविद्यायां महाकाशो लीयते परमे पदे ॥८५॥

यह समग्र चराचर जगत एक ही चैतन्य से आविर्भूत हुआ है, ऐसी कल्पना

करने से संसार की सत्यता प्रतीत होती है, किन्तु संसार के न रह जाने पर उस शुद्ध चेतन आत्मा के सिवाय अन्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता, जैसे—पृथिवी जल में निमग्न हो जाती और जल में अग्नि का विलय हो जाता है वैसे ही अग्नि का वायु में और वायु का आकाश में विलयन सुनिश्चित होता है। तदनन्तर वह आकाश भी अविद्या में विलीन हो जाता है और अविद्यास्वरूपा माया महाकाश में पहुँचकर अर्थात् परमपद में जाकर विलुप्त हो जाती है। अर्थात् पंच भूतात्मक जगत अपने-अपने कारणों में लय को प्राप्त हो जाता है। ऐसी अवस्था आने पर केवल एक ब्रह्म ही शेष रह जाता है ॥८४-८५॥

विक्षेपावरणाशक्तिर्दुरन्ता दुःखरूपिणी ।
जडरूपा महामाया रजः सत्त्वतमोगुणाः ॥८६॥
सा मायावरणाशक्त्य वृता विज्ञानरूपिणी ।
दर्शयेज्जगदाकारं तं विक्षेपस्वभावतः ॥८७॥

परमेश्वर की दो शक्तियाँ मानी गयी हैं—एक विक्षेप और दूसरा आवरण। ये शक्तियाँ अनन्त दुःखदायिनी होती हैं। माया को त्रिगुणात्मस्वरूपा (सत्त्व, रज एवं तम) कहा गया है। वह इन तीन गुणों में से अपनी इच्छा के अनुसार कोई भी ग्रहण करती रहती है। इसी को आवरणशक्ति कहते हैं। यह शक्ति जब ज्ञानावरण धारण कर लेती है तब वह स्वतः ही अज्ञानमयी बन जाती है। पुनः यह विक्षेप स्वभावशीला शक्ति जगदाकृति का प्रदर्शन करने लगती है ॥८६-८७॥

तमोगुणात्मिका विद्या या सा दुर्गा भवेत्स्वयम् ।
ईश्वरं तदुपहितं चैतन्यं तदभूद्ध्रुवम् ॥८८॥
सत्त्वाधिका च या विद्या लक्ष्मीःस्याद्दिव्यरूपिणी ।
चैतन्यं तदुपहितं विष्णुर्भवति नान्यथा ॥८९॥
रजोगुणाधिका विद्या ज्ञेया सा वै सरस्वती ।
कश्चित्स्वरूपो भवति ब्रह्मा तदुपधारकः ॥९०॥

यही महामाया तमोगुण धारण करके दुर्गास्वरूपिणी बन जाती है और चेतनस्वरूप ईश्वर को उत्पन्न करती है। यही माया जब सत्त्वगुण को ग्रहण कर लेती है तब वह दिव्यस्वरूपिणी लक्ष्मी बनकर विष्णुरूप चैतन्य का आविर्भाव करती है, किन्तु जब यह रजोगुणप्रधान सरस्वती रूप धारण करती है तब ब्रह्मारूप चैतन्य का प्रादुर्भाव करती है। अभिप्राय यह है कि तमोगुण की प्रबलता से यही शक्ति दुर्गास्वरूपा बनकर सृष्टि संहारक शिव को, सत्त्वगुण की बहुलता से सृष्टिपालक विष्णु को तथा रजोगुण की प्रधानता से सरस्वतीरूपा होकर सृष्टिरचयिता ब्रह्मा को उत्पन्न करती है। इस प्रकार इस शक्ति को ही जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार में मूलभूत कारण माना गया है ॥८८-९०॥

ईशाद्याः सकला देवा दृश्यन्ते परमात्मनि ।
शरीरादिजडं सर्वं सा विद्या तत्तथा तथा ।।९१।।
एवंरूपेण कल्पन्ते कल्पका विश्वसम्भवम् ।
तत्त्वात्तत्त्वं भवन्तीह कल्पनान्येन नोदिता ।।९२।।

इस जगत में जितने भी नाम और रूप के देवता हैं वे सभी एक परमात्मा में ही दिखाई पड़ते हैं, किन्तु शरीरादि समस्त जड़ वस्तुएँ उसी एक आत्मा में अवस्थित होने के फलस्वरूप आत्मा से भिन्न जान पड़ती हैं। सृष्टि के सम्बन्ध में विद्वानों ने इस प्रकार की कल्पना की है। संसार में सभी कुछ आत्मा से ही आविर्भूत है। अतएव आत्मा से भिन्न सभी वस्तुएँ काल्पनिक होती हैं। उसकी सत्यता को किसी ने भी स्वीकार नहीं किया है ॥९१-९२॥

प्रमेयत्वादिरूपेण सर्वं वस्तु प्रकाश्यते ।
तथैव वस्तु नास्त्येव भासको वर्तकः परः ।।९३।।
स्वरूपत्वेन रूपेण स्वरूपं वस्तु भास्यते ।
विशेषशब्दोपादाने भेदो भवति नान्यथा ।।९४।।

संसार में प्रमेयस्वरूप अर्थात् जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है उसको प्रकाशमान करने वाला केवल एक आत्मा ही है। भिन्न-भिन्न रूपों में दृष्टिगत होने वाली वस्तुएँ उपाधि-भेद के कारण ही भिन्न प्रतीत होती हैं, किन्तु यथार्थतः उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं होता। उनमें ऐसा भेद केवल विशिष्ट शब्दों के प्रयोग से ही जान पड़ता है ॥९३-९४॥

एक सत्तापूरितानन्दरूपः पूर्णो व्यापी वर्तते नास्ति किञ्चित् ।
एतज्ज्ञानं यः करोत्येव नित्यं मुक्तः स स्यान्मृत्युसंसारदुःखात् ।।९५।।

एकं सत्ता से परिपूरित वह आत्मा ही सम्पूर्ण स्थानों में वर्तमान रहता है। उससे पृथक् कहीं कुछ भी नहीं है, जिसने ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लिया है उसे ही जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त समझना चाहिए। ऐसे ज्ञानी पुरुष को कभी दुःख की अनुभूति नहीं होती ॥९५॥

यस्यारोपापवादभ्यां यत्र सर्वे लयं गताः ।
स एको वर्तते नान्यत् तच्चित्तेनावधार्यते ।।९६।।

आरोप-प्रत्यारोप से आविर्भूत समस्त कार्यों का ज्ञान के द्वारा विलीन हो जाना सुनिश्चित रहता है। अतः उस एक आत्मा में ही मन का विलय कर देना उचित है। अर्थात् आत्म-चिंतन में ही चित्त को सदैव लगाये रखना चाहिए ॥९६॥

पितुरन्नमयात्कोषाज्जायते पूर्वकर्मणः ।
शरीरं वै जडं दुःखं स्वप्राग्भोगाय सुन्दरम् ।।९७।।
मांसास्थिस्नायुमज्जादिनिर्मितं भोगमन्दिरम् ।
केवलं दुःखभोगाय नाडीसंततिगुम्फितम् ।।९८।।

यह जीव अपने पूर्व कर्मार्जित फलानुसार पिता के अन्नमय कोश से सुन्दर जड़

शरीर लेकर दुःखभोग रूप में उत्पन्न होता है। मांस, अस्थि, स्नायु (नस) तथा मज्जा आदि नाड़ियों से आबद्ध शरीर भोग-मन्दिर के रूप में बनकर दुःख का कारण बनता है। तात्पर्य यह है कि यह शरीर ही दुःखरूप है। अतः मायाजाल में पड़कर शरीराभिमान करना निरर्थक है ॥९७-९८॥

पारमैष्ठ्यमिदं गात्रं पञ्चभूतविनिर्मितम् ।
ब्रह्माण्डसंज्ञकं दुःखसुखभोगाय कल्पितम् ॥९९॥
बिन्दुः शिवो रजः शक्तिरूभयोर्मिलनात् स्वयम् ।
स्वप्नभूतानिजायन्ते स्वशक्त्याजडरूपया ॥१००॥

इस शरीर का निर्माण पंचतत्त्वों से ब्रह्मा के द्वारा किया गया है। इस ब्रह्माण्डसंज्ञक शरीर की कल्पना दुःख-सुखभोग हेतु ही की गयी है। शिवरूप बिन्दु (वीर्य) और शक्तिरूप रज—इन दोनों के मिलन से ही यह शक्तिरूपा जड़ माया अपने प्रभुत्व से स्वप्नवत् शरीरोत्पत्ति किया करती है ॥९९-१००॥

तत्पञ्चीकरणात्स्थूलान्यसंख्यानिचराचरम् ॥१०१॥
ब्रह्माण्डस्थानि वस्तूनि यत्र जीवोऽस्ति कर्मभिः ।
तद्भूतपंचकात्सर्वं भोगाय जीवसंज्ञिता ॥१०२॥

इस संसार में पंचभूतों के पंचीकरण के फलस्वरूप स्थूल रूप से चराचर जगत की अनेक रूपों में सृष्टि होती है। अपने सद-असद् कर्मानुसार फलोपभोग करने के लिए ही यह जीव पंचभूतों के द्वारा निर्मित इस संसार में जन्म लेता है ॥१०१-१०२॥

पूर्वकर्मानुरोधेन करोमि घटनामहम् ।
अजडः सर्वभूतान्वैजडस्थित्याभुनक्तितान् ॥१०३॥
जडात्स्वकर्मभिर्बद्धो जीवाख्यो विविधो भवेत् ।
भोगायोत्पद्यते कर्म ब्रह्माण्डाख्ये पुनः पुनः ।
जीवश्च लीयते भोगावसाने च स्वकर्मणः ॥१०४॥

शिवजी कहते हैं कि मैं समस्त जीवों को उनके कर्मानुसार ही उत्पन्न किया करता हूँ। मैं सभी भूतों से भिन्न और अविनाशी होते हुए भी जड़स्वरूप होकर उन सभी को अपना ग्रास बना लेता हूँ। यह जीव कर्मबन्धन की आबद्धता से अनेक रूपों में होकर जड़शरीर धारण करता है, कयोंकि वह अपने कृतकर्मों के फलभोग हेतु ही इस संसार में बार-बार जन्म लेता रहता है। पुनः शुभाशुभ कर्मों का अन्त हो जाने पर उसी आत्मा में विलीन हो जाता है ॥१०३-१०४॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे लयत्वप्रकरणे नाम प्रथम पटलः सम्पूर्णम् ॥१॥

इस प्रकार श्री शिवसंहिता के लयत्ववर्णन नामक प्रथम पटल की पं० हरिहरप्रसाद त्रिपाठीकृत हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥१॥

◆

द्वितीय पटलः

तत्त्वज्ञानोपदेश

(तात्त्विक ज्ञान का निरूपण)

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः ।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकः ।।१।।
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः ।।२।।

मानव शरीर के अन्दर ही सात द्वीपों (जम्बू, शाक, कुश, क्रौंच, शाल्मलि, प्लक्ष और पुष्कर) तथा सुमेरु पर्वत का निवास स्थान है । नदी, समुद्र, गिरि, क्षेत्रपाल, समस्त ऋषि-मुनि, सम्पूर्ण ग्रह, नक्षत्र, पुण्यदायक तीर्थस्थल, पीठस्थान तथा पीठदेवता आदि सभी की वर्तमानता है । तात्पर्य यह है कि इस शरीर में ही सभी पुण्यस्थली, तपोभूमि तथा देवविग्रहालय की अवस्थिति है । अतः साधक को शरीरस्थ उन सभी स्थानों से सुपरिचित होकर पुण्य का संचयन करना चाहिए । उसे किसी अन्य स्थान में मन को नहीं दौड़ाना चाहिए ।।१-२।।

सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ ।
नभोवायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च ।।३।।
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः ।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते ।
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः ।।४।।

सृष्टिकर्ता तथा संहारकर्ता चन्द्र-सूर्य इस शरीर में निरन्तर परिभ्रमण किया करते हैं । शरीरस्थ पंचतत्त्वों (आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी) की विद्यमानता भी शरीर में सदैव बनी रहती है । त्रैलोक्य (स्वर्ग, मर्त्य, पाताल) के समस्त प्राणी शरीरस्थ सुमेरु के आश्रित होकर अपने अपने कर्मों में लगे रहते हैं । जो पुरुष इन सब बातों को भली प्रकार से जान लेता है वही यथार्थ योगी समझा जाता है ।।३-४।।

ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः ।
मेरुशृङ्गे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुतः ।।५।।
वर्ततेऽहर्निशं सोऽपि सुधां वर्षत्यधोमुखः ।
ततोऽमृतं द्विधाभूतं याति सूक्ष्मं यथा च वै ।।६।।

जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में सम्पूर्ण प्रदेश और सुमेरु पर्वत वर्तमान रहते हैं उसी प्रकार इस देह में भी सब कुछ विद्यमान रहता है । अर्थात् ब्रह्माण्ड और शरीर के मध्य कुछ भी भेद नहीं रहता । इसी कारण शरीर को ब्रह्माण्डसंज्ञक कहा जाता है । इस शरीरस्थ सुमेरु पर्वत के शिखर पर आठ कलाओं से युक्त चन्द्रमा की स्थिति रहती

है। वह चन्द्रमा नीचे की ओर मुख किये निरन्तर अमृत-वर्षा किया करता है। उस अमृत के दो प्रकार होते हैं—एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल ॥५-६॥

इडामार्गेण पुष्ट्यर्थं याति मन्दाकिनीजलम् ।
पुष्णाति सकलंदेहमिडामार्गेण निश्चितम् ।।७।।
एष पीयूषरश्मिर्हि वामपार्श्वे व्यवस्थितः ।।८।।

इस शरीर के परितोषणार्थ इड़ा नाम्नी नाड़ीपथ से जलरूपी मंदाकिनी प्रवहमान रहा करती है जिसके फलस्वरूप शरीर का अभिरक्षण तथा पोषण हुआ करता है। अमृत किरणों से भरपूर यह इड़ा नाड़ी नासिका के वाम पार्श्व में अवस्थित रहा करती है ॥७-८॥

अपरःशुद्धदुग्धाभो हठात्कर्षति मण्डलात् ।
रन्ध्रमार्गेण सृष्ट्यर्थं मेरौ संयाति चन्द्रमाः ।।९।।
मेरुमूले स्थितः सूर्यः कलाद्वादशसंयुतः ।
दक्षिणे पथि रश्मिभिर्वहत्यूर्ध्वं प्रजापतिः ।।१०।।

वह विशुद्ध दूध के समान कांतिवान् चन्द्रमा हर्षोल्लासपूर्वक अपने मण्डल से मेरु पर आकर इड़ा नाड़ी के छिद्रमार्ग से शरीर का पोषण करता है। मेरुदण्ड (रीढ़ास्थि) से नीचे की ओर द्वादश कलाओं से संयुक्त सूर्य की अवस्थिति रहती है। दक्षिणपथ अर्थात् पिंगला नाड़ीपथ से प्रजापति ऊर्ध्वगामी होता है ॥९-१०॥

पीयूषरश्मिनिर्यासं धातूंश्च ग्रसति ध्रुवम् ।
समीरमण्डले सूर्यो भ्रमते सर्वविग्रहे ।।११।।
एषा सूर्यपरा मूर्तिर्निर्वाणं दक्षिणे पथि ।
वहते लग्नयोगेन सृष्टिसंहारकारकः ।।१२।।

चन्द्रमा द्वारा क्षरित होते हुए अमृत को सूर्य अपनी रश्मियों के बल पर अपना ग्रास बनाकर वायुमण्डल में घुल-मिल जाता और समग्र शरीर में परिभ्रमण किया करता है। यह निर्वाणमूर्ति सूर्य पिंगला नाड़ी के दाएँ भाग में वर्तमान रहता है। यह सृष्टिकारक और संहारक सूर्य लग्नयोग से नाड़ी से द्वारा प्रवाहित रहता है ॥११-१२॥

सार्धलक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम् ।
प्रधानभूता नाड्यस्तु तासु मुख्याश्चतुर्दश ।।१३।।
सुषुम्णेडा पिंगला च गान्धारी हस्तिजिह्वका ।
कुहू सरस्वती पूषा शंखिनी च पयस्विनी ।।१४।।
वारुणालम्बुषा चैव विश्वोदरी यशस्विनी ।
एतासु तिस्रो मुख्याः स्युः पिङ्गलेडा सुषुम्णिका ।।१५।।

मनुष्य के शरीर में प्रधानतया साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ होती हैं जिनमें चौदह नाड़ियों को मुख्य माना गया है जो इस प्रकार से हैं,जैसे— सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला,

गांधारी, हस्तजिह्वका, कुहू,सरस्वती, पूषा, शंखिनी, पयस्विनी, करुणा, अलम्बुषा, विश्वोदरी तथा यशस्विनी। इन चतुर्दश नाड़ियों में भी पिंगला, इड़ा और सुषुम्ना—इन तीनों की प्रमुखता होती है ॥१३-१५॥

तिसृष्वेका सुषुम्णैव मुख्या सा योगिवल्लभा।
अन्यास्तदाश्रयं कृत्वा नाड्यः सन्ति हि देहिनाम् ॥१६॥
नाड्यस्तु ता अधोवदनाः पद्मतन्तुनिभाः स्थिताः।
पृष्ठवंशं समाश्रित्य सोमसूर्याग्निरूपिणी ॥१७॥

उक्त कथित त्रिनाड़ियों (पिंगला, इड़ा, सुषुम्ना) में सुषुम्ना नाड़ी ही सर्वोपरि होती हैं, क्योंकि यह योगियों के लिए परमप्रिय कही गयी है। इसके अतिरिक्त अन्य जितनी भी नाड़ियाँ हैं वे सभी शरीर में ही अवस्थित रहती हैं। ये तीनों नाड़ियाँ अधोमुखी होकर कमल-तन्तु के समान स्थित रहा करती हैं। ये तीनों ही चन्द्र, सूर्य और अग्निस्वरूपिणी होती हैं तथा मेरुदण्ड के आश्रित रहती हैं ॥१६-१७॥

तासां मध्ये गता नाडी चित्रा सा मम वल्लभा।
ब्रह्मरन्ध्रं च तत्रैव सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं शुभम् ॥१८॥
पञ्चवर्णोज्ज्वला शुद्धा सुषुम्णा मध्यरूपिणी।
देहस्थोपाधिरूपा सा सुषुम्णा मध्यरूपिणी ॥१९॥
दिव्यमार्गमिदं प्रोक्तममृतानन्दकारकम्।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो दुरितौघं विनाशयेत् ॥२०॥

उन तीनों नाड़ियों के मध्य स्थित रहने वाली चित्रा नाड़ी मुझे परमप्रिय है, क्योंकि वहीं पर सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर ब्रह्मरन्ध्र की विद्यमानता होती है। वह चित्रा नाड़ी पाँच वर्णों वाली, उज्ज्वल और विशुद्ध है। सुषुम्ना के बीच में अवस्थित वही चित्रा नाड़ी शरीर की उपाधि का मूलभूत कारण भी है। यही वह दिव्यपथ भी है जिसे मैंने अमृत तथा आनन्दोत्पादक बतलाया है। केवल उसके ध्यानमात्र से ही योगीन्द्रों के पातक विनष्ट हो जाते हैं ॥१८-२०॥

गुदात्तु व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु व्यङ्गुलादधः।
चतुरङ्गुलविस्तारमाधारं वर्तते समम् ॥२१॥
तस्मिन्नाधारपद्मे च कर्णिकायां सुशोभना।
त्रिकोणा वर्तते योनिः सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥२२॥

गुदाद्वार से दो अंगुल ऊपर तथा मेढ्र से दो अंगुल नीचे की ओर चार अंगुल विस्तृत एक आधार-कमल वर्तमान रहता है जिसे मूलाधार चक्र भी कहा जाता है। उस आधार पद्म की कर्णिका में एक त्रिकोणाकार योनि अवस्थित रहती है जिसे सभी शास्त्रों ने परम गोपनीय कहा है। अर्थात् इसे किसी अयोग्य व्यक्ति से नहीं कहना चाहिए ॥२१-२२॥

तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ।
सार्द्धत्रिकारा कुटिला सुषुम्णामार्गसंस्थिता ।।२३।।
जगत्संसृष्टिरूपा सा निर्माणे सततोद्यता ।
वाचामवाच्या वाग्देवी सदा देवैनमस्कृता ।।२४।।

वह परम देवतास्वरूपिणी कुंडलिनी साढ़े तीन गेंडुरी (घेरा) लगाये सुषुम्ना नाड़ी के बीच में अवस्थित रहती है। वह वक्राकार तथा विद्युत्‌रेखा वाली होती है। वह कुंडलिनी सृष्टि संरचना में सतत ही संलग्न रहा करती है। वही वाग्देवीस्वरूपा भी होती है। क्योंकि उसी की सहायता से वाक्योच्चार सम्भव होता है। वह सभी देवों के द्वारा स्तुत्य एवं प्रणमित होती है ॥२३-२४॥

इडानाम्नी तु या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता ।
सुषुम्णायां समाश्लिष्य दक्षनासापुटे गता ।।२५।।
पिङ्गला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता ।
सुषुम्णा सा समाश्लिष्य वामनासापुटेगता ।।२६।।

वाम पार्श्वस्थ इड़ा नाम्नी नाड़ी सुषुम्ना को संश्लिष्ट कर दाएँ नासारन्ध्र में चली गयी है। इसी प्रकार दक्षिण नासारन्ध्र में स्थित पिंगला नाड़ी सुषुम्ना का आश्रय ग्रहण कर वाम नासारन्ध्र में चली जाती है ॥२५-२६॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत् खलु ।
षट्स्थानेषु च षट्शक्तिं षट्पद्मं योगिनो विदुः ।।२७।।
पञ्चमस्थानं सुषुम्णाया नामानि स्युर्बहूनि च ।
प्रयोजनवशात्तानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रतः ।।२८।।

सुषुम्ना नाड़ी की अवस्थिति इड़ा और पिंगला नाड़ियों के मध्य रहती है। इस सुषुम्ना के छह स्थानों में क्रमशः छह शक्तियाँ भी विद्यमान रहती हैं जिन्हें डाकिनी, हाकिनी, काकिनी, लाकिनी, राकिनी और शाकिनी के नाम से जाना जाता है। इन्हीं छह स्थानों में छह कमल भी होते हैं जिसे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र कहा जाता है। इन सबका ज्ञान योगी अपने योगाभ्यास के द्वारा प्राप्त करता है। सुषुम्ना के भी पाँच स्थान और अनेक नाम बतलाये गये हैं जिसे आवश्यकता पड़ने पर शास्त्रों के द्वारा जाना जा सकता है ॥२७-२८॥

अन्या याऽस्त्यपरा नाडी मूलाधारात्समुत्थिताः ।
रसनामेढ्रनयनं पादाङ्गुष्ठे च श्रोत्रकम् ।।२९।।
कुक्षिकक्षाङ्गुष्ठवर्णं सर्वाङ्गं पायुकुक्षिकम् ।
लब्ध्यान्ता वै निवर्तन्ते यथादेशसमुद्भवाः ।।३०।।

इसके अतिरिक्त अन्य नाड़ियाँ मूलाधार से निकलकर जीभ, मेढ्र, नेत्र, पैर के

अंगूठे, कान, कोख, कक्ष, हाथों के अंगूठे, मलद्वार तथा जननेंद्रिय आदि स्थानों में जाकर समाप्त हुई हैं ॥२९-३०॥

एताभ्य एव नाडीभ्यः शाखोपशाखतः क्रमात् ।
सार्धं लक्षत्रयं जातं यथाभागं व्यवस्थितम् ।।३१।।
एता भोगवहा नाड्यो वायुसञ्चारदक्षका: ।
ओतप्रोताभिसंव्याप्य तिष्ठन्त्यस्मिन् कलेवरे ।।३२।।

इन नाड़ियों की शाखा-प्रशाखाओं से उत्पन्न होकर साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ क्रमशः अपने-अपने स्थानों में अवस्थित हो जाया करती हैं । इन सभी भोगवहा नाड़ियों में वायु का संचरण होता रहता है तथा संयोग-वियोग से ओत-प्रोत होकर मानव शरीर में परिव्याप्त रहती हैं ॥३१-३२॥

सूर्यमंडलमध्यस्थः कला द्वादशसंयुतः ।
बस्तिदेशे ज्वलद्वह्निर्वर्तते चान्नपाचकः ।।३३।।
वैश्वानराग्निरेषो वै मम तेजोंशसम्भवः ।
करोति विविधं पाकं प्राणिनां देहमास्थितः ।।३४।।

द्वादश कलाओं से परिपूर्ण सूर्यमण्डल के मध्य में जो अग्नि दहकती रहती है उसी के द्वारा भक्षित अन्नों का परिपाक होता है । वह वैश्वानर अग्नि मेरे ही तेजोद्भूत है । यह अग्नि समस्त प्राणियों के शरीर में व्याप्त रहकर विविध प्रकार से पाचन-क्रिया का कार्य करती रहती है ॥३३-३४॥

आयुः प्रदायको वह्निर्बलं पुष्टिं ददाति सः ।
शरीर पाटवं चारि ध्वस्तरोगसमुद्भवः ।।३५।।
तस्माद्वैश्वानरग्निं च प्रज्वाल्य विधिवत्सुधीः ।
तस्मिन्नं हुनेद् योगी प्रत्यहं गुरुशिक्षया ।।३६।।

इसी वैश्वानर नामक अग्नि के फलस्वरूप आयु, बल और पुष्टि का वर्धन होता तथा इसी के द्वारा समस्त रोगों का विनष्टीकरण भी हो जाता है । इस अग्नि को प्रज्वलित करने हेतु किसी सुयोग्य गुरु से दीक्षा लेने के पश्चात् इसमें अन्नाहुति देनी चाहिए । अर्थात् गुरु से ज्ञान प्राप्त कर मानव को संतुलित आहार ग्रहण करने चाहिए ॥३५-३६॥

ब्रह्माण्डसंज्ञकेदेहे स्थानानि स्युर्बहूनि च ।
मयोक्तानि प्रधानानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रके ।।३७।।
नानाप्रकार नामानि स्थानानि विविधानि च ।
वर्तन्ते विग्रहे तानि कथितुं नैव शक्यते ।।३८।।

इस ब्रह्माण्डसंज्ञक देह में अगणित स्थान विद्यमान हैं तथा उन स्थानों के अनेक नाम भी हैं, किन्तु मैंने कुछ प्रमुख स्थानों का ही वर्णन किया है । शेष सभी

शास्त्रानुशीलन से जाने जा सकते हैं। सम्पूर्ण स्थानों एवं उनके नामों का कथन करना मेरे बल-बूते के बाहर है ॥३७-३८॥

इत्थं प्रकल्पिते देहे जीवो वसति सर्वगः ।
अनादिवासनामालाऽलंकृतः कर्मशृङ्खलः ॥३९॥
नानाविधगुणोपेतः सर्वव्यापारकारकः ।
पूर्वार्जितानि कर्माणि भुनक्ति विविधानि च ॥४०॥

इस प्रकार प्रकल्पित शरीर में निवसित जीव अनन्तकाल से चली आ रही वासनारूपी माला में भ्रमण करता हुआ कर्म-बन्धन की जंजीर में जकड़ा रहता हैं। वह अनेक प्रकार के गुणों का ग्राही बनकर जगत् के सभी व्यापारों का सम्पादन करता रहता है तथा पूर्वार्जित शुभाशुभ कर्मफलों का भोग भोगता रहता है ॥३९-४०॥

यद्यत्संदृश्यते लोके सर्वं तत्कर्मसम्भवम् ।
सर्वः कर्मानुसारेण जन्तुर्भोगान् भुनक्ति वै ॥४१॥
ये ये कामादयो दोषाः सुखदुःखप्रदायकाः ।
ते ते सर्वे प्रवर्तन्ते जीवकर्मानुसारतः ॥४२॥

इस संसार में जितने भी शुभाशुभ कर्म दृष्टिगत होते हैं, उनका मूलभूत कारण केवल कर्म ही होता है। समस्त जीव अपने-अपने कर्मानुसार फलों को भोगते रहते हैं। काम-क्रोधादि से उत्पन्न मानव-मन में होने वाली सुख-दुःख की अनुभूति का होना भी उसके कर्म का ही फल होता है। अर्थात् शुभ कर्मों द्वारा सुखोपलब्धि तथा अशुभ कर्मों द्वारा दुःखोपलब्धि का होना सुनिश्चित है ॥४१-४२॥

पुण्योपरक्त चैतन्ये प्राणान् प्रीणाति केवलम् ।
बाह्ये पुण्यतमं प्राप्य भोज्यवस्तु स्वयं भवेत् ॥४३॥
ततः कर्म बलात्पुंसः सुखं वा दुःखमेव च ।
पापोपरक्तचैतन्यं नैव तिष्ठति निश्चितम् ॥४४॥

पुण्यदायक कर्मों के करने से मनुष्य को सुख की प्राप्ति होती है। पुण्यकारक कर्मों के द्वारा उसे उत्तम भोज्य पदार्थ एवं अन्यान्य बाहरी वस्तुएँ भी स्वयं ही मिल जाया करती हैं। यह जीव अपने कर्म फलानुसार ही सुख-दुःख भोगने के लिए बाध्य रहता है। पाप-कर्म में आसक्ति से दुःख तथा अनासक्ति से सुख मिलता है ॥४३-४४॥

न तद्भिन्नो भवेत् सोऽपि तद्भिन्नो न तु किञ्चन ।
मायोपहितचैतन्यात्सर्वं वस्तु प्रजायते ॥४५॥
यथाकालेऽपि भोगाय जन्तूनांविविधोद्भवः ।
यथा दोषवशाच्छुक्तौ रजतारोपणं भवेत् ।
तथा स्वकर्मदोषाद्वै ब्रह्मण्यारोप्यते जगत् ॥४६॥

प्राणी द्वारा कृत कर्म ही सुख-दुःख के रूप में उभर कर उसके समक्ष आता है।

कर्ता और भोक्ता में कोई विभेद नहीं होता। अर्थात् प्राणी जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल मिलना भी उसे सुनिश्चित रहता है। आत्मा के माया द्वारा उपहित होने पर इस सृष्टि की उत्पत्ति होती है। जीव के फलोपभोग का जो समय पहले से निश्चित रहता है उसी समय में जीव को जन्म ग्रहण कर अपने कर्मों के फल का भोग करना पड़ता है। जिस प्रकार दृष्टिदोष के परिणामस्वरूप सीपी में चाँदी का आभास होता है उसी प्रकार कर्मदोष के कारण ही जीव को ब्रह्म में इस मिथ्या जगत का आभास होने लगता है ॥४५-४६॥

स वासनाभ्रमोत्पन्नोन्मूलनातिसमर्थनम्।
उत्पन्नं चेदीदृशं स्याज्ज्ञानंमोक्ष प्रसाधनम् ॥४७॥
साक्षाद्वै शेषदृष्टिस्तु साक्षात्कारिणि विभ्रमे।
करणंनान्यथायुत्त्या सत्यंसत्यंमयोदितम् ॥४८॥

इस संसार में जो कुछ भी वस्तुएँ प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होती हैं, वे सभी भ्रमात्मक होती हैं। इस भ्रम के न मिटने तक यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक मनुष्य इसी भ्रम-जाल में उलझकर रह जाता है और यही बंधन का मूल कारण बनता है। मनुष्य की बुद्धि माया के आवरण से आच्छादित रहने के फलस्वरूप वह आत्म-साक्षात्कार नहीं कर पाता, यह कथन नितान्त सत्य है ॥४७-४८॥

साक्षात्कारिभ्रमे साक्षात् साक्षात्कारिणि नाशयेत्।
स हि नास्तीति संसारे भ्रमो नैव निवर्तते ॥४९॥
मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तु विशेषदर्शनाद्भवेत्।
अन्यथा न निवृत्तिः स्यादृश्यते रजतभ्रमः ॥५०॥

जगत् के दृश्यमान पदार्थ के नष्ट न हो जाने तक ब्रह्मात्म का अनुभव कदापि नहीं हो सकता। आत्मा के प्रत्यक्षीकरण द्वारा ही ब्रह्म की प्रत्यक्षता सम्भव होती है, किन्तु सांसारिक भ्रम का निवारण होना अत्यन्त दुष्कर है। इस भ्रम का विनाश तभी हो सकता है जब आत्म-दर्शन हो जाय। सीप में चाँदी होने का भ्रम तभी मिट सकता है जब सीप का प्रत्यक्षीकरण हो जाय ॥४९-५०॥

यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरञ्जने।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यन्ते विविधानि च ॥५१॥
यदा कर्मार्जितं देहं निर्वाणे साधनं भवेत्।
तदा शरीरवहनं सफलं स्यान्न चान्यथा ॥५२॥

मनुष्य में जबतक आत्म-ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो जाती तब तक उसे सभी जीव अनेक रूपों में दृष्टिगत होते रहते हैं। अत: इस कर्मार्जित शरीर की विद्यमानता रहने

तक मानव को मोक्षसाधन का मार्ग ढूँढ लेना चाहिए। यदि वह मुक्ति-साधना में अग्रसर न हो सके तो उसका जन्म लेना ही निरर्थक है। ऐसी स्थिति में वह धरती पर् केवल भार-स्वरूप बना रहता है ॥५१-५२॥

यादृशी वासना मूला वर्त्तते जीवनसङ्गिनी ।
तादृशं वहते जन्तुः कृत्याकृत्यविधौ भ्रमम् ।।५३।।
संसार सागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगसाधकः ।
कृत्वा वर्णाश्रमं कर्म फलवर्जं तदाचरेत् ।।५४।।

मानव-मन में जिस प्रकार की वासना निहित रहती है उसी से प्रेरित होकर वह शुभाशुभ कर्म करने में निरत रहता है और यही वासना उसके जन्म-मरण का कारण भी बनती है। अत: इस अथाह संसार-सागर से पार जाने के अभिलाषी पुरुष को सदैव ही निष्काम भाव से कर्म करने चाहिए ॥५३-५४॥

विषयासक्तपुरुषा विषयेषु सुखेप्सवः ।
वाचाभिरुद्धनिर्वाणा वर्तन्ते पापकर्मणि ।।५५।।

विषयासक्त तथा विलासी व्यक्ति सर्वदा ही विषय-भोग के सुख में निमग्न रहा करते हैं। उनके मुख से मोक्ष-विषयक एक शब्द भी उच्चरित नहीं होते। अर्थात् वे सदैव ही पापकर्म में लिप्त रहा करते हैं ॥५५॥

आत्मानमात्मना पश्यन्न किंचिदिह पश्यति ।
तदा कर्मपरित्यागे न दोषोऽस्ति मतं मम ।।५६।।
कामादयो विलीयन्ते ज्ञानादेव न चान्यथा ।
अभावे सर्वतत्त्वानां स्वयं तत्त्वं प्रकाशते ।।५७।।

आत्मा के द्वारा आत्मदर्शन करने वाले ज्ञानवान पुरुष को जब कोई अन्य पदार्थ दिखलाई न दे तो उसे कर्मत्याग करने में कोई दोष नहीं होता, ऐसा मेरा अभिमत है। ज्ञानोत्पत्ति होने पर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य आदि सभी मनोविकार ज्ञान में विलीन हो जाते हैं और केवल आत्मज्ञान का आलोक ही शेष रह जाता है ॥५६-५७॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे तत्त्वज्ञानोपदेशो नाम द्वितीय पटल: सम्पूर्णम् ॥२॥

इस प्रकार श्री शिवसंहिता के तत्त्वज्ञानोपदेश नामक दूसरे पटल की पं० हरिहरप्रसाद त्रिपाठीकृत हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥२॥

◆

तृतीय पटलः

योगाभ्यास कथन

हृदयस्ति पङ्कजं दिव्यं दिव्यलिंगेन भूषितम् ।
कादिठान्ताक्षरोपेतं द्वादशार्णविभूषितम् ।।१।।
प्राणो वसति तत्रैव वासनाभिरलंकृतः ।
अनादिकर्मसंश्लिष्टः प्राप्याहङ्कार संयुतः ।।२।।

प्रत्येक प्राणी के हृत्प्रदेश में दिव्य चिह्नों से युक्त एक दिव्य कमल की अवस्थिति रहती है। यह कमल 'क' वर्ण से लेकर 'ठ' वर्ण तक बारह अक्षरों से शोभायमान रहता है। अर्थात् कमल में क्रमशः क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज झ, ञ, ट और ठ वर्ण उसकी बारह पंखुडियों पर नामांकित रहा करते हैं। इसी कमल में अनादि कर्म से परिप्लुत तथा अहंकारपूर्ण वासना से परिपूरित प्राण का निवासस्थल माना जाता है ।।१-२।।

प्राणस्य वृत्तिभेदेन नामानि विविधानि च ।
वर्तन्ते तानि सर्वाणि कथितुं नैव शक्यते ।।३।।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानश्च पञ्चमः ।
नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः ।।४।।

इस शरीर में प्राण के वृत्तिभेद से जो अनेक नामसंज्ञक वायु वर्तमान रहते हैं उन सभी का उल्लेख करने में मैं सर्वदा ही अपने को असमर्थ पाता हूँ। अर्थात् उन समस्त वायुओं का नामोल्लेख करना यहाँ अनावश्यक है। अतः उनमें जिनकी प्रमुखता है उन्हें ही यहाँ बतलाया जा रहा है। प्राण के दश भेद इस प्रकार से हैं, जैसे—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ।।३-४।।

दश नामानि मुख्यानि मयोक्तानीह शास्त्रके ।
कुर्वन्ति तेऽत्र कार्याणि प्रेरितानि स्वकर्मभिः ।।५।।
अत्रापि वायवः पञ्च मुख्याः स्युर्दर्शिताः पुनः ।
तत्रापि श्रेष्ठकर्त्तारौ प्राणापानौ मयोदितौ ।।६।।

शास्त्रों में वर्णित उक्त दश प्राण ही प्रमुख माने गये हैं। ये समस्त वायु अपने-अपने कर्मों से प्रेरित होकर शरीर में क्रियाशील रहते हैं। उक्त कथित दश वायुओं में भी पाँच वायुओं (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) की विशेष रूप से महत्ता रहती है, किन्तु मैंने यहाँ केवल प्राण और अपान—इन दो को ही कहे हैं ।।५-६।।

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ।।७।।

नागादिवायवः पञ्च कुर्वन्ति ते च विग्रहे ।
उद्गारोन्मीलनं क्षुतृट् जृम्भा हिक्का च पञ्चमः ।।८।।

अब यहाँ पंच प्राणों के वासस्थान तथा अन्य पाँच वायुओं के कार्यक्षेत्र का कथन किया जा रहा है जो इस प्रकार से है—हृत्प्रदेश में प्राणवायु, गुदाद्वार में अपान वायु, नाभिस्थल में समान वायु, कंठप्रदेश में उदान वायु तथा सम्पूर्ण शरीर में व्यान वायु परिव्याप्त होकर भ्रमणशील रहता है । इनके अतिरिक्त नागादि पंचवायुओं का कार्य क्रमशः डकार, हिक्का (हिचकी), जृम्भा (जँभाई लेना), क्षुधा-पिपासा तथा उन्मीलन अर्थात् निद्रितावस्था में नेत्र-पटलों को बन्द कर देना होता है ।।७-८।।

अनेन विधिना यो वै ब्रह्माण्डं वेत्ति विग्रहम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ।।९।।
अधुना कथयिष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
यज्ज्ञात्वा नावसीदन्ति योगिनो योगसाधने ।।१०।।

इस प्रकार जो व्यक्ति इस शरीर को ब्रह्माड रूप समझ लेता है, वह सभी पापों से रहित होकर निर्वाणपद प्राप्त कर लेता है । इस रीति से सद्यः योगसिद्धि सुलभ हो जाती है । इस प्रक्रिया को जानने वाला योगाभ्यासी योगसाधना काल में किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं करता । इसका तात्पर्य यह है कि योगसाधना की प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर साधक को कष्ट नहीं झेलना पड़ता, किन्तु अज्ञानता की अवस्था में योगसाधना करना साधक के लिए कष्टप्रद सिद्ध होता है ।।९-१०।।

भवेद्वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्रसमुद्भवा ।
अन्यथाफलहीनास्यान्निर्वीर्याप्यतिदुःखदा ।।११।।
गुरुं सन्तोष्य यत्नेन य वै विद्यामुपासते ।
अवलम्बेन विद्यायास्तस्याः फलमवाप्नुयुः ।।१२।।

गुरुमुख से श्रवण की हुई विद्या निश्चय ही फलवती सिद्ध होती है । गुरुवाणी से रहित विद्या सर्वदा ही निष्क्रिय और फलविहीन होती है । यदि गुरुज्ञान से हीन योगाभ्यासी किसी के अनुकरणवश योग साधन करने लगे तो वैसी साधना उसके लिए कष्टकारिणी बन जाती है, किन्तु जो विद्या गुरु की परितुष्टि से प्राप्त की जाती है वह शीघ्र ही सिद्धिदायिनी तथा सफलताकारिणी होती है ।।११-१२।।

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो न संशयः ।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात् सर्वैः प्रसेव्यते ।।१३।।
गुरुप्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभमात्मनः ।
तस्मात् सेव्योगुरुर्नित्यमन्यथा न शुभं भवेत् ।।१४।।

निस्सन्देह रूप से गुरु ही पिता, माता और देवस्वरूप होता है । अतः शिष्य

को मनसा, वाचा, कर्मणा गुरु की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए। गुरु की प्रसन्नता के फलस्वरूप आत्मा का कल्याण होता है। अतएव निश्छल भाव से गुरु की नित्य ही सेवा करनी चाहिए। अश्रद्धान्वित होकर की जाने वाली गुरु की सेवा से कोई लाभ नहीं होता ॥१३-१४॥

प्रदक्षिणात्रयं कृत्वा स्पृष्ट्वा सव्येन पाणिना ।
अष्टांगेन नमस्कुर्याद्गुरुपादसरोरुहम् ।।१५।।
श्रद्धयात्मवतां पुंसां सिद्धिर्भवति नान्यथा ।
अन्येषां च न सिद्धिः स्यात्तस्माद्यत्नेन साधयेत् ।।१६।

अपने गुरु की तीन बार प्रदक्षिणा करके दाहिने हाथ से उनके शरीर का स्पर्श कर उनके चरण-कमलों में साष्टांग प्रणाम करना चाहिए। इस प्रकार श्रद्धासमन्वित होकर कार्य करने वाले शिष्य को अवश्य ही सिद्धि मिलती है, किन्तु इसके विपरीत अश्रद्धालु को कभी भी सफलता नहीं मिलती। प्रत्येक साधक को चेष्टावान् होकर अपनी साधना पूर्ण करनी चाहिए। साष्टांग प्रणाम निवेदित करने का विधान शास्त्रों में निम्न प्रकार से किया गया है—

दोर्भ्यां पदाभ्यां जानुभ्यां उरसा शिरसा दृशा ।
मनसा वक्षसा चेति प्रणामोऽष्टांग ईरितः ।।

अर्थात् पैर, जाँघ, हृदय, शिर, दृष्टि, मन तथा वक्षःस्थल—इन आठ अंगों से जो प्रणाम किया जाय उसे अष्टांग प्रणाम कहा जाता है। किन्तु यह साष्टांग प्रणाम केवल पुरुषों के लिए ही करणीय होता है, महिलाओं को इस प्रकार का प्रणाम करना वर्जित है ॥१५-१६॥

न भवेत् सङ्गयुक्तानां तथाविश्वासिनामपि ।
गुरुपूजाविहीनानां तथा च बहुसंगिनाम् ।।१७।।
मिथ्यावादरतानां च तथा निष्ठुरभाषिणाम् ।
गुरुसन्तोषहीनानां न सिद्धिः स्यात् कदाचन ।।१८।।

जो पुरुष सांसारिक कार्यों में निरत रहने वाले व्यक्तियों से अत्यधिक सम्पर्क रखते हैं तो उनसे भी सिद्धियाँ दूर रहती हैं। इसी प्रकार अविश्वासी तथा अश्रद्धालु पुरुष भी सिद्धियों को प्राप्त करने से वंचित रह जाया करते है। मिथ्यावादी, कर्कश वाणी बोलने वाले तथा गुरु के परितोष का ध्यान न रखने वाले व्यक्तियों की भी यही दशा होती है। अर्थात् वे सिद्धि-प्राप्ति हेतु सदा ही अयोग्य साबित होते हैं ॥१७-१८॥

फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम् ।
द्वितीयं श्रद्धया युक्त तृतीयं गुरुपूजनम् ।।१९।।
चतुर्थं समताभावं पञ्चमेन्द्रियनिग्रहम् ।
षष्ठं च प्रमिताहारं सप्तमं नैव विद्यते ।।२०।।

योगशास्त्र में सिद्धि-प्राप्ति के छह लक्षण बतलाये गये हैं जो इस प्रकार से हैं—(१) मन में विश्वास की भावना, (२) श्रद्धावान होना, (३) गुरु-पूजा परायणता, (४) समस्त प्राणियों में समभाव, (५) इन्द्रियों का दमन तथा (६) संतुलित आहार-ग्रहण। ये ही छह लक्षण मुख्यतया कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त कोई सातवाँ लक्षण नहीं होता ॥१९-२०॥

योगोपदेशं सम्प्राप्य लब्ध्वा योगविदं गुरुम्।
गुरूपदिष्टविधिनाधियानिश्चित्य साधयेत्॥२१॥
सुशोभने मठे योगी पद्मासनसमन्वितः।
आसनोपरि संविश्य पवनाभ्यासमाचरेत्॥२२॥

साधक को किसी योगवेत्ता गुरु से योगोपदेश लेकर उनके द्वारा कथित विधानानुसार निश्चयात्मक बुद्धि से साधना में तल्लीन रहना चाहिए। उसे साधना हेतु किसी ऐसे मठ का चयन करना चाहिए जो सुन्दर और साफ-सुथरा हो तथा दीवारों में छोटे छिद्र हों। ऐसे स्थान में साधक पद्मासन लगाकर बैठ जाय और वहीं प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ कर दें ॥२१-२२॥

प्राणायाम की प्रक्रिया

समकायः प्राञ्जलिश्च प्रणम्य च गुरून् सुधीः।
दक्षे वामे च विघ्नेशं क्षेत्रपालाम्बिकां पुनः॥२३॥
ततश्च दक्षाङ्गुष्ठेन निरुद्ध्य पिङ्गलां सुधीः।
इडया पूरयेद्वायुं यथाशक्ति तु कुम्भयेत्॥२४॥

सर्वप्रथम अपने शरीर को एक सीध में रखकर करबद्ध हो गुरु को प्रणाम करना चाहिए। पुनः दाएँ-बाएँ पार्श्व में विघ्नहर्ता गणेशजी को, क्षेत्रपाल को तथा जगज्जननी देवी अम्बिका को प्रणाम करे। तदनन्तर दाहिने हाथ के अँगूठे द्वारा पिंगला नाड़ी (दायाँ नासिकारन्ध्र) को रोककर इड़ा नाड़ी (चन्द्रनाड़ी, वाम नासापुट) से वायु को शक्त्यानुसार ऊपर की ओर खींचकर कुछ क्षण तक उसे रोके रहें। पुनः उसे पिंगला नाड़ी (सूर्यनाड़ी) द्वारा धीरे-धीरे बहिर्गत कर दें। अर्थात् वाम नासा से पूरक प्राणायाम (श्वास को ऊपर की ओर खींचना) करने के पश्चात् कुम्भक प्राणायाम (कर्षित वायु को रुद्ध करना) करें। तत्पश्चात् वाम नासिका से रेचक प्राणायाम (दाएँ नासारन्ध्र से शनैः शनैः अवरुद्ध वायु का निष्कासन) करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि पूरक, कुम्भक और रेचक—ये तीनों ही प्राणायाम के अभिन्न अंग माने गये हैं ॥२३-२४॥

ततस्त्यक्त्वा पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः।
पुनः पिङ्गलयापूर्य यथाशक्ति तु कुम्भयेत्॥२५॥
इडया रेचयेद्वायुं न वेगेन शनैः शनैः।

इदं योगविधानेन कुर्याद्विंशतिकुम्भकान् ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः प्रत्यहं विगतालसः ।।२६।।

इस प्रकार बारम्बार पिंगला नाड़ी (दायाँ नासापुट) से पूरक प्राणायाम करे। पुनः इड़ानाड़ी (वाम नासापुट) द्वारा वायु का कर्षण करके कुम्भक प्राणायाम की क्रिया सम्पन्न करें। तत्पश्चात् इड़ा नाड़ी से अवरुद्ध वायु का निष्कासन धीरे-धीरे करें। वायु को निकालते समय शीघ्रता न करें। इस रीति से बीस बार आलस्यरहित होकर कुम्भक प्राणायाम करने वाला साधक सभी द्वन्द्वों से विमुक्त हो जाता है। अभिप्राय यह है कि कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास क्रमशः बढ़ाता हुआ उस पर अपना आधिपत्य कर ले तो वह समस्त क्लेशों से छूट जाता है ॥२५-२६॥

प्रातःकाले च मध्याह्ने सूर्यास्ते चार्धरात्रके ।
कुर्यादेवं चतुर्वारं कालेष्वेतेषु कुम्भकान् ।।२७।।

इस रीति से नित्यप्रति प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल तथा आधीरात में अर्थात् कुल चार बार साधक को प्राणायाम करने चाहिए ॥२७॥

नाड़ी का शुद्धिकरण

इत्थं मासद्वयं कुर्यादनालस्यो दिने दिने ।
ततोनाडीविशुद्धिःस्यादविलम्बेन निश्चितम् ।।२८।।

उक्त कथित रीति से आलस्यविहीन होकर निरन्तर दो मास तक नियमपूर्वक प्राणायाम करने के परिणामस्वरूप साधक के नाड़ी-मल का परिष्कार हो जाता है ॥२८॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्याद् योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ।
तदा विध्वस्तदोषश्च भवेदारम्भसम्भवः ।।२९।।
चिह्नानि योगिनो देहे दृश्यन्ते नाडिशुद्धितः ।
कथ्यन्ते तु समस्तान्यङ्गानि संक्षेपतो मया ।।३०।।

तत्वदर्शी योगी की नाड़ी का परिशोधन हो जाने पर उसके सभी विकार मिट जाते हैं और योगसाधना का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। नाड़ी का शुद्धिकरण होने के पश्चात् योगी में जो लक्षण प्रकट होते हैं उन्हें मैं संक्षेपतया कह रहा हूँ ॥२९-३०॥

समकायः सुगन्धिश्च सुकान्तिः स्वरसाधकः ।।३१।।
आरम्भघटकश्चैव यथा परिचयस्तदा ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था भवन्तिताः ।।३२।।

नाड़ीशुद्धि के पश्चात् योगी का शरीर साम्यावस्था में आ जाता है। अर्थात् उसकी देह में स्थूलता, दुर्बलता या वक्रता नहीं रह जाती और सभी अंग एक समान दीख पड़ने लगते हैं। उसके शरीर में सुगन्धि तथा मुखमण्डल पर तेजस्विता की कान्ति झलकने लगती है। ऐसी अवस्था आने पर उसके स्वर में भी मिठास आ जाती है।

इन प्रारम्भिक लक्षणों के साथ-साथ उसे योग का पूर्णरूपेण ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसी को योगावस्था भी कहा जाता है ॥३१-३२॥

आरम्भः कथितोऽस्माभिरधुना वायुसिद्धये ।
अपरः कथ्यते पश्चात्सर्वदुःखौघनाशनः ॥३३॥
प्रौढवह्निः सुभोगी च सुखी सर्वाङ्गसुन्दरः ।
सम्पूर्णहृदयो योगी सर्वोत्साहबलान्वितः ।
जायते योगिनोऽवश्यमेते सर्वकलेवरे ॥३४॥

प्राणवायु की सिद्धि होने पर पूर्व कथित सभी लक्षण आरम्भिक काल में पाये जाते हैं। अब मैं उनसे मिलने वाले उस लाभ का कथन करता हूँ जिससे समस्त दुःखों का नाश हो जाता है। ऐसे योगी में जठराग्नि की प्रज्वलिता, अंग-सौष्ठव, आहार-ग्राह्यता, हर्षोल्लासिता एवं मन की प्रसन्नता उत्पन्न हो जाती है ॥३३-३४॥

अथ वर्ज्यं प्रवक्ष्यामि योगविघ्नकरं परम् ।
येन संसारदुःखाब्धिंतीर्त्वा यास्यन्ति योगिनः ॥३५॥
आम्लं रूक्षं तथा तीक्ष्णं लवणं सार्षपं कटुम् ।
बहुलं भ्रमणं प्रातः स्नानं तैलविदाहकम् ॥३६॥

अब मैं उन विघ्नकारी कारकों का वर्णन करता हूँ जिसके परित्याग से योगी इस संसार-सागर से पार चला जाता है। योगी के लिए खट्टे, रूखे, तीक्ष्ण, नमकीन, सरसों आदि पदार्थों का सेवन, कड़ुए पदार्थ का भोजन, अत्यधिक भ्रमण, प्रातःस्नान तथा शरीर में तैलादि का मर्दन करना निषिद्ध है ॥३५-३६॥

स्तेयं हिंसा जनद्वेषं चाहङ्कारमनार्जवम् ।
उपवासमसत्यञ्च मोहञ्च प्राणपीडनम् ॥३७॥
स्त्रीसङ्गमग्निसेवां च बह्वालापं प्रियाप्रियम् ।
अतीव भोजनं योगी त्यजेदेतानि निश्चितम् ॥३८॥

किसी की वस्तु की चोरी करना, जीवहिंसा, मानव के प्रति विद्वेष, अहंकार, प्राणिमात्र के प्रति प्रेमाभाव, व्रतोपवास, मिथ्या-भाषण, मोहग्रस्तता, प्राणों का परिपीड़न, स्त्री-संसर्ग, अग्नि-सेवन, वाचालता, प्रिय-अप्रिय भाषण तथा अतिभोजन योगी के लिए सर्वदा ही अग्राह्य हैं। उसे इनका परित्याग अवश्य ही कर देना चाहिए ॥३७-३८॥

उपायं च प्रवक्ष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
गोपनीयं साधकानां येन सिद्धिर्भवेत् खलु ॥३९॥
घृतं क्षीरं च मिष्टान्नं ताम्बूलं चूर्णवर्जितम् ।
कर्पूरं निष्ठुरं मिष्टं सुपठं सूक्ष्मवस्त्रकम् ॥४०॥

अब मैं योगसाधना में शीघ्र ही सिद्धिलाभ के उपाय का कथन कर रहा हूँ। इसे सर्वदा ही गुप्त रखना चाहिए। योगाभ्यासी को घी, दूध, मिठाई, पान-सुपारी तथा

चूर्ण से रहित आहार लेने चाहिए। उसे कभी भी उत्तेजक पदार्थ, जैसे—कपूर आदि नहीं खाने चाहिए। योगी को कर्कश वाणी का परित्याग कर मधुर वाणी का अभ्यासी बनना चाहिए। साधक को उत्तम कुटिया और स्वस्थ वातावरण में निवास करते हुए महीन वस्त्र पहनने चाहिए। अर्थात् सादे वेश-भूषा में रहना ही उसे आवश्यक होता है ॥३९-४०॥

सिद्धान्तश्रवणं नित्यं वैराग्यगृहसेवनम् ।
नामसङ्कीर्तनं विष्णोः सुसादश्रवणे परम् ।।४१।।
धृतिः क्षमा तपः शौचं ह्रीर्मतिगुरुसेवनम् ।
सदैतांश्च परं योगी नियमांश्च समाचरेत् ।।४२।।

योगाभ्यासी पुरुषों के लिए नित्य वेदान्त-वाक्यों का श्रवण, वैराग्य भाव का धारण तथा ईश्वर नामस्मरण करना उचित है। उसे मांगलिक वचनों का श्रवण, धैर्य, क्षमा, तप, शुचिता तथा लज्जा का भाव रखना आवश्यक बतलाया गया है। गुरु की सेवा में निरन्तर निरत रहकर कथित नियमों का अनुपालन करना आवश्यक होता है। इस प्रकार का साधक अल्पकाल में ही सिद्धि को पा लेता है ॥४१-४२॥

अनिलोऽर्कप्रवेशे च भोक्तव्यं योगिभिः सदा ।
वायौ प्रविष्टे शशिनि शयनं साधकोत्तमैः ।।४३।।
सद्यो भुक्तेऽपि क्षुधितेनाभ्यासः क्रियते बुधैः ।
अभ्यासकालेप्रथमं कुर्यात् क्षीराज्यभोजनम् ।।४४।।

योगी को दक्षिण नासापुटस्थ पिंगला नाड़ी (सूर्यनाड़ी) के प्रवहमान रहने पर भोज्य पदार्थों का ग्रहण तथा वाम नासापुटस्थ इड़ा नाड़ी (चन्द्रनाड़ी) के प्रवाहित रहने पर शयन करना उचित कहा गया है। उसे भोजनोपरान्त तत्काल ही अथवा क्षुधातुर रहने पर खाली पेट अभ्यास करना वर्जित है, क्योंकि ऐसा करना हानिकारक सिद्ध होता है। अभ्यास- काल से पूर्व उसे घी और दूध का सेवन करना उपयोगी होता है ॥४३-४४॥

ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ।
अभ्यासिना विभोक्तव्यं स्तोकं स्तोकमनेकधा ।।४५।।
पूर्वोक्तकाले कुर्यात्तु कुम्भकान् प्रतिवासरे ।
ततो यथेष्टाशक्तिःस्याद्योगिनो वायुधारणे ।।४६।।

योगाभ्यास में दृढ़ता आ जाने पर उसे कथित नियमों के पालन की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। उसे बार-बार अल्प मात्रा में भोज्य पदार्थ ग्रहण करते रहना चाहिए। इस प्रकार प्रतिदिन कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करते रहने से कुम्भक की सिद्धि मिल जाती है। तत्पश्चात् उसमें वायुधारण की यथेष्ट शक्ति आ जाती है ॥४५-४६॥

यथेष्टं मारणाद्वायोः कुम्भकः सिध्यति ध्रुवम् ।
केवले कुम्भके सिद्धे किं न स्यादिह योगिनः ।।४७।।
स्वेदः संजायते देहे योगिनः प्रथमोद्यमे ।।४८।।
यदा संजायते स्वेदो मर्दनं कारयेत्सुधीः ।
अन्यथा विग्रहे धातुर्नष्टो भवति योगिनः ।।४९।।

योगी में वायुधारण की यथेच्छ शक्ति आ जाने पर उसका कुम्भक सिद्ध हो जाता है अर्थात् वह समस्त कार्यों में सामर्थ्यवान् बन जाता है। उसके लिए कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं रह जाता। प्रथम बार के अभ्यास-काल में अभ्यासी के शरीर से पसीना छूटने लगता है। उस क्षण उसके लिए यह आवश्यक होता है कि वह देहनिर्गत पसीने को शरीर में ही मलकर सुखा ले। यदि वह ऐसा करने से हिचकता है तो उसके शरीरस्थ धातुओं का विनाश हो जाता है ।।४७-४९।।

द्वितीये हि भवेत् कम्पो दार्दुरी मध्यमे मतः ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद्गगने चरसाधकः ।।५०।।
योगी पद्मासनस्थोऽपि भुवमुत्सृज्य वर्तते ।
वायुसिद्धिस्तदाज्ञेया संसारध्वान्तनाशिनी ।।५१।।

साधक द्वारा दूसरी बार अभ्यास किये जाने पर उसकी देह में कँपकपी तथा तीसरी बार में मेंढकी चाल उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् जिस प्रकार मेंढक भूमि से ऊपर उछल-कूदकर पुनः धरती पर आ जाता है वैसे ही योगाभ्यासी का आसन भी किंचित् ऊपर उठकर पुनः अपने स्थान पर स्थिर हो जाता है। अभ्यास के दृढ़तर हो जाने पर साधक स्वेच्छानुसार गगनचारी बन सकता है ।।५०-५१।।

तावत्कालं प्रकुर्वीत योगोक्तनियमग्रहम् ।
अल्पनिद्रा पुरीषं च स्तोकं मूत्रं च जायते ।।५२।।
अरोगित्वमदीनत्वं योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ।
स्वेदो लाला कृमिश्चैव सर्वथैव न जायते ।।५३।।

योगसिद्धाभिलाषी के लिए शास्त्रोक्त नियमों का अनुपालन उस समय तक अनिवार्य होता है जब तक उसे यथेच्छ वायुधारण की शक्ति, अल्पकालिक निद्रा तथा अल्प परिमाण में मल-मूत्र का निस्सरण न होने लगे। अर्थात् जब उसमें निद्रा की अनुभूति कम हो तथा मल-मूत्र के निस्सरण की मात्रा भी घट जाय तो उसे योगसिद्धि की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होते हुए जानना चाहिए। तत्ववेत्ता योगियों में शारीरिक और मानसिक व्यथा का बोध नहीं होता और न तो उसके शरीर से पसीना ही छूटता है। मुख से लार भी नहीं टपकती और न ही उसमें उदरकृमियों की उत्पत्ति होती है ।।५२-५३।।

कफपितानिलाश्चैव साधकस्य कलेवरे ।
तस्मिन्कालेसाधकस्य भोज्येष्वनियमग्रहः ।।५४।।
अत्यल्पं बहुधा भुक्त्वा योगी न व्यथते हि सः ।
अथाभ्यासवशाद्योगी भूचरीं सिद्धिमाप्नुयात् ।
यथा दर्दुरजन्तूनां गतिः स्यात्पाणिताडनात् ।।५५।।

उसके शरीर में कफ, पित्त और वात—इन तीनों की दोषग्रस्तता भी नहीं होती। पूर्व निर्धारित काल तक योगी को भोजनादि ग्रहण में संयम रखने चाहिए। ऐसी अवस्था में साधक द्वारा अतिभोजन या लघुभोजन किये जाने पर भी उसे कष्ट का अनुभव नहीं होता, बल्कि अभ्यास के फलस्वरूप उसमें भूचरी विद्या की सिद्धि आ जाती है। अर्थात् जिस प्रकार मेढ़क अपने हाथ पटककर भूमि में प्रविष्ट हो जाता है उसी प्रकार योगी भी हस्तताड़नमात्र से ही भूमि में प्रवेश कर जाता है ।।५४-५५।।

सन्त्यत्र बहवो विघ्ना दारुणा दुर्निवारणाः ।
तथापि साधयेद्योगी प्राणैः कण्ठगतैरपि ।।५६।।

योगसाधना काल में साधक के समक्ष ऐसी अनेक प्रकार की बाधाएँ आती रहती हैं जिनका निवारण करना अत्यन्त दुष्कर होता है। ऐसी स्थिति में भी साधक को निराश न होकर अपनी साधना में तब तक संलग्न रहना चाहिए जब तक प्राण कंठ तक न आ जाय ।।५६।।

ततो रहस्युपाविष्टः साधकःसंयतेन्द्रियः ।
प्रणवं प्रजपेद्दीर्घं विघ्नानां नाशहेतवे ।।५७।।
पूर्वार्जितानि कर्माणि प्राणायामेन निश्चितम् ।
नाशयेत् साधको धीमानिह लोकोद्भवानि च ।।५८।।

अपने सम्मुख उपस्थित विघ्नों के शमनार्थ साधक को अपनी इन्द्रियों का दमन करना आवश्यक होता है। इसके साथ ही उसे किसी एकांत स्थान में बैठकर उच्च स्वर से प्रणव मंत्र का जाप मन लगाकर करना उचित है। योगाभ्यासी साधक पूर्व जन्मार्जित तथा वर्तमानकालिक कृत समस्त कर्मों का प्राणायाम के द्वारा विनाश कर डालता है। अतः प्राणायाम के बल पर योगी के लिए समस्त कर्मों का विनष्टीकरण कर देना सम्भव हो जाता है ।।५७-५८।।

पूर्वार्जितानि पापानि पुण्यानि विविधानि च ।
नाशयेत् षोडशप्राणायामेन योगिपुङ्गवः ।।५९।।
पापतूलचयानाहो प्रलयेत्प्रलयाग्निना ।
ततः पापविनिर्मुक्तः पश्चात्पुण्यानि नाशयेत् ।।६०।।

उत्तम योगी अपने पूर्वार्जित पाप-पुण्य के कर्म-समूहों का नाश केवल सोलह प्राणायाम के द्वा ही कर डालता है। प्राणायाम के फलस्वरूप पाप-पुंज उसी भाँति

जलकर राख हो जाते हैं जिस प्रकार आग में पड़कर तिनका भस्म हो जाता है। प्राणायाम द्वारा पापरहित योगी अपने पुण्यकर्मों का भी उसी अग्नि में आहुति दे देता है। तात्पर्य यह है कि सभी पाप-पुण्य कर्मों का पूर्णरूप से क्षय हो जाता है। जब कुछ भी फलभोग शेष नहीं रह जाता तभी उसे मोक्ष की उपलब्धि होती है ।।५९-६०।।

प्राणायामेन योगीन्द्रो लब्ध्वैश्वर्याष्टकानि वै ।
पापपुण्योदधिं तीर्त्वा त्रैलोक्यचरतामियात् ।।६१।।

उत्तम योगाभ्यासी पुरुष प्राणायाम की महत्ता के फलस्वरूप अष्टसिद्धियों (अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व तथा वशित्व) को हस्तगत कर इस संसार-सागर से पार चला जाता है और तब वह त्रैलोक्य में अपनी इच्छा के अनुसार परिभ्रमण कर सकता है। यहाँ अष्टसिद्धियों की प्राप्ति का उल्लेख क्रमशः नीचे किया जा रहा है ।।६१।।

अणिमा—मन में इच्छा करते ही शरीर को परमाणु के समान सूक्ष्मतम बना लेना।

महिमा—इच्छामात्र से शरीर को विस्तृत कर लेना ही महिमा सिद्धि कहलाती है।

गरिमा— हलका होते हुए भी इच्छामात्र से पर्वत से भी अधिक भारवान हो जाना।

लघिमा— अत्यधिक भारवान होकर भी हलका-फुलका प्रतीत होना।

प्राप्ति—मनोनुकूल पदार्थों की तत्क्षण होनेवाली उपलब्धि।

प्राकाम्य—संकल्पमात्र से अभिलषित वस्तु की परिपूर्णता।

ईशित्व—सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों के निर्माण एवं विनष्टीकरण की क्षमता का होना।

वशित्व—किसी को अपने वशवर्ती बना लेने की समर्थता।

ततोऽभ्यासक्रमेणैव घटिकात्रितयं भवेत् ।
येनस्यात्सकला सिद्धिर्योगिनः स्वेप्सिता ध्रुवम् ।।६२।।
वाक्सिद्धिः कामचारित्वं दूरदृष्टिस्तथैव च ।
दूरश्रुतिः सूक्ष्मदृष्टिः परकायप्रवेशनम् ।।६३।।

प्राणायाम के क्रमानुसार अभ्यासी पुरुष में जब तीन घड़ी (घटी) तक प्राणवायु के अवधारण की शक्ति उत्पन्न हो जाय तो वह अपनी इच्छानुसार सभी सिद्धियों को प्राप्त कर लेने में समर्थ हो जाता है। यह बात निश्चित रूप से सत्य है। ऐसे योगी में स्वेच्छाचरण की समर्थता, किसी दूरस्थ वस्तु की दर्शन-शक्ति, दूरगामी शब्दों की श्रवण-शक्ति, सूक्ष्म से सूक्ष्मतम पदार्थ के अवलोकन की शक्ति तथा किसी अन्य व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट होने की शक्ति भी आ जाती है ।।६२-६३।।

विण्मूत्रलेपनं स्वर्णमदृश्यं करणं तथा ।
भवन्त्येतानि सर्वाणि खेचरत्वं च योगिनाम् ।।६४।।
यदा भवेद् घटावस्था पवनाभ्यासने परा ।
तदा संसारचक्रेऽस्मिन् तन्नास्ति यन्न साधयेत् ।।६५।।

कुम्भक प्राणायाम की सिद्धि पा लेने वाले योगी में धातु-परिवर्तन की शक्ति भी आ जाती है । यदि वह अपने मल-मूत्र का लेपन स्वर्ण से इतर किसी अन्य धातु पर कर दे तो वह धातु निश्चय ही स्वर्ण बन जाता है । उसमें किसी की आँखों से ओझल होने (अदृश्यता) तथा आकाशगमन करने की क्षमता भी आ जाती है । ऐसी अवस्था को घटावस्था कहते हैं । अर्थात् ऐसी स्थिति में योगी के लिए संसार की कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं रह जाती ॥६४-६५॥

प्राणापाननादबिन्दू जीवात्मपरमात्मनोः ।
मिलित्वा घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते ।।६६।।
याममात्रं यदा धर्तुं समर्थः स्यात्तदाद्भुतः ।
प्रत्याहारस्तदैव स्यान्नान्तरा भवति ध्रुवम् ।।६७।।

घटावस्था का आशय यह होता है कि जब योगी में प्राण, अपान, नाद, बिन्दु, जीवात्मा तथा परमात्मा का सन्निवेश एक साथ हो जाय । योगी में एक प्रहर (३घण्टा) तक वायुधारण की शक्ति उत्पन्न होने पर उसमें प्रत्याहार (योग का एक अंग) की शक्ति आ जाती है जिसके फलस्वरूप साधन में कोई अन्तर नहीं रहता, यह बात सुनिश्चित है ॥६६-६७॥

यं यं जानाति योगीन्द्रस्तं तमात्मेति भावयेत् ।
यैरिन्द्रियैर्यद्विधानस्तदिन्द्रियजयो भवेत् ।।६८।।

योगी में जिन-जिन पदार्थों का ज्ञान हो, उसे उन-उन पदार्थों में आत्मभावना रखनी चाहिए । जिस इन्द्रिय की सहायता से जिस वस्तु का बोध होता हो, उसमें आत्मभाव रखने से इन्द्रिय पर विजयश्री मिलती है । अर्थात् जिस प्रकार नेत्र के द्वारा रूप, कर्ण के द्वारा शब्द या घ्राण के द्वारा गंधादि का बोध होता है उसी प्रकार उन सब में आत्मभाव रखने पर वे इन्द्रियाँ अपने विषयों का ग्रहण नहीं करेंगी । तात्पर्य यह है कि विषयों से विमुख रहने पर स्वतः ही इन्द्रियों पर विजय-लाभ हो जायगा ॥६८॥

याममात्रं यदा पूर्णं भवेदभ्यासयोगतः ।
एकवारं प्रकुर्वीत तदा योगी च कुम्भकम् ।।६९।।
दण्डाष्टकं यदा वायुर्निश्चलो योगिनो भवेत् ।
स्वसामर्थ्यात्तदांगुष्ठे तिष्ठेद्वातुलवत् सुधीः ।।७०।।

एक बार में कुम्भक प्राणायाम द्वारा आठ घटी (३ घण्टा) तक प्राणवायु को

रोक रखने वाला योगी पैर के अंगूठे पर निश्चल भाव से खड़ा रह सकता है। किन्तु उसे इस अलौकिक शक्ति की गोपनीयता बनाये रखने के लिए अपनी विक्षिप्तावस्था प्रकट करनी चाहिए। अर्थात् योगी को अपनी शक्तिसम्पन्नता का प्रदर्शन कदापि नहीं करना चाहिए ॥६९-७०॥

ततः परिचयावस्था योगिनोऽभ्यास्तो भवेत् ।
यदा वायुश्चन्द्रसूर्यं त्यक्त्वा तिष्ठति निश्चलम् ।
वायुःपरिचितो वायुःसुषुम्णा व्योम्नि सञ्चरेत् ।।७१।।
क्रियाशक्तिं गृहीत्वैव चक्रान् भित्वा सुनिश्चितम् ।।७२।।

तत्पश्चात् निरन्तर अभ्यास-रत रहने वाले योगी में परिचयावस्था का आविर्भाव हो जाता है। जिस समय वायु इड़ानाड़ी (चन्द्रनाड़ी) पिंगला नाड़ी (सूर्यनाड़ी) का परित्याग कर अचल हो उठता है तब वह परिचित वायु सुषुम्ना मार्ग से आकाश में संचरण करने लगता है। ऐसी स्थिति में क्रियाशक्तिग्राही योगी चक्रभेदन में निश्चय ही सामर्थ्यवान बन जाता है। अर्थात् परिचयावस्था में योगी षट्चक्र (आज्ञाचक्र, विशुद्धचक्र, अनाहत चक्र, मणिपूरचक्र, स्वाधिष्ठान चक्र तथा मूलाधार चक्र) भेदन में अवश्य ही सक्षम हो जाता है। ऐसी अवस्था की प्राप्ति अभ्यास के द्वारा ही सम्भव हो सकती है ॥७१-७२॥

यदा परिचयावस्था भवेदभ्यासयोगतः ।।
त्रिकूटं कर्मणां योगी तदा पश्यति निश्चितम् ।।७३।।
ततश्च कर्मकूटानि प्रणवेन विनाशयेत् ।
स योगी कर्मभोगाय कायव्यूहं समाचरेत् ।।७४।।

अभ्यास के परिणामस्वरूप योगी में परिचयावस्था आ जाने पर वह निश्चित रूप से त्रिकूट कर्मों को देखने में सफल हो सकता है। त्रिकूट कर्म के तीन भेद कहे गये हैं, जैसे—आध्यात्मिक (मानसिक क्लेश), आधिभौतिक (भूत-प्रेत पिशाचादि से मिलने वाला कष्ट) और आधिदैविक (कर्म फलानुसार देवताओं से होने वाला कष्ट)। योगी में इन त्रिकूट कर्मों का बोध हो जाता है जिसे वह ओंकारं मंत्रजाप के फलस्वरूप विनाश करने में भी सक्षम हो जाता है। यदि वह पूर्व जन्मार्जित कर्मफलों के भोगने का अभिलाषी हो तो उसे अपनी इच्छा के अनुसार भोग भी सकता है ॥७३-७४॥

अस्मिन्काले महायोगी पञ्चधा धारणं चरेत् ।
येन भूरादिसिद्धिः स्यात्ततो भूतभयापहा ।।७५।।
आधारे घटिकाः पञ्च लिङ्गस्थाने तथैव च ।
तदूर्ध्वं घटिका पञ्च नाभिहृन्मध्यकं तथा ।।७६।।
भ्रूमध्याध्र्वं तथा पञ्च घटिका धारयेत् सुधीः ।
तथा भूरादिना नष्टो योगीन्द्रो भवेत् खलु ।।७७।।

मेधावी सर्वभूतानां धारणां यः समभ्यसेत् ।
शतब्रह्ममृतेनापि मृत्युस्तस्य न विद्यते ।।७८।।

योगी द्वारा पाँच प्रकार की धारणा की सिद्धि हो जाने पर उसमें पंचभूतों की धारणा भी सिद्ध हो जाती है । पंचभूतों की सिद्धि मिल जाने के पश्चात् उसे भूतों से कोई भय नहीं रह जाता । वायुधारण के अभ्यास का विधान यह है कि सर्वप्रथम आधारचक्र, पुनः उससे ऊपर स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धचक्र और आज्ञाचक्र में क्रमश पाँच-पाँच घटी (२-२ घंटे) तक वायुधारण करने का अभ्यासी बने । इस प्रकार गुदाद्वार, शिश्न, नाभिस्थल, हृदय, कण्ठप्रदेश और भौंहों के मध्य स्थित षट्चक्रों में वायुधारण के अभ्यास को सिद्ध कर लेने वाला योगी अविनश्वर हो जाता हैं । अर्थात् उसका विनाश पंचभूतों के द्वारा कभी सम्भव नहीं होता । इस प्रकार पंचभूतों का दृढ़ाभ्यासी योगी के निकट मृत्यु सौ ब्रह्माओं का आयुकाल पूर्ण हो जाने पर भी नहीं जाती ।।७५-७८।।

ततोऽभ्यासक्रमेणैव निष्पत्तिर्योगिनो भवेत् ।
अनादिकर्मबीजानि येन तीर्त्वाऽमृतं पिबेत् ।।७९।।
यदा निष्पत्तिर्भवति समाधेः स्वेन कर्मणा ।
जीवन्मुक्तस्य शान्तस्य भवेद्धीरस्य योगिनः ।।८०।।

इस प्रकार के निरन्तराभ्यास द्वारा योगी में निष्पत्यावस्था आ जाती है । वह अनन्त काल से अंकुरित हुए कर्म-बीज को नष्ट कर अमृतपान करने में समर्थ हो जाता है । अपने अभ्यासरूप कर्म द्वारा जब योगी में समाधि-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब वह समाधि में निमग्न हो जाया करता है ।।७९-८०।।

यदानिष्पत्तिसंपन्नःसमाधिः स्वेच्छया भवेत् ।।८१।।
गृहीत्वा चेतनां वायुः क्रियाशक्तिं च वेगवान् ।
सर्वान् चक्रान् विजित्वा च ज्ञानशक्तौ विलीयते ।।८२।।

योगी में इस प्रकार की निष्पत्यावस्था आ जाने पर उसकी समाधि भी इच्छा के अनुरूप होती है । वह समाधि की अवस्था में जिसका चिन्तन करता है उसी में उसके चित्त का विलय भी हो जाया करता है । ऐसा योगाभ्यासी मन, वायु और क्रियाशक्ति के साथ सभी चक्रों का भेदन कर अन्त में ब्रह्मज्ञान में समाहित हो जाता है ।।८१-८२।।

इदानीं क्लेशहान्यर्थं वक्तव्यं वायुसाधनम् ।
येन संसार चक्रेऽस्मिन् रोगहानिर्भवेद्ध्रुवम् ।।८३।।
रसनां तालुमूले यः स्थापयित्वा विचक्षणः ।
पिबेत् प्राणानिलं तस्य रोगाणां संक्षयो भवेत् ।।८४।।

देवी पार्वती से शिवजी कहते हैं कि हे देवि ! अब मैं सम्पूर्ण क्लेशनिवारक प्राणवायु के उस विधि को बतलाता हूँ जिसके द्वारा सांसारिक रोगों का अवश्य ही

विनष्टीकरण हो जाता है। यदि प्रबुद्ध साधक अपनी जिह्वा को पलटकर तालुमूल में लगा ले और प्राणवायु का पान करे तो उसके सभी रोगों का विनाश सुनिश्चित रहता है ॥८३-८४॥

काकचञ्च्वा पिबेद्वायुं शीतलं यो विचक्षणः।
प्राणापानविधानज्ञः स भवेन्मुक्ति भाजनः ॥८५॥
सरसं यः पिबेद्वायुं प्रत्यहं विधिना सुधीः।
नश्यन्ति योगिनस्तस्य श्रमदाहजरामयाः ॥८६॥

यदि प्राण-अपान का विधि-विधिज्ञ साधक अपने होंठ को कौए की चोंच के समान लम्बोतरा बनाकर शीतल वायु को पान करे तो वह निश्चय ही मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। जो पुरुष विधानपूर्वक नित्यप्रति रसान्वित वायु का पान करता है, उसके श्रम (परिश्रम से उत्पन्न होने वाली थकावट), दाह (शारीरिक जलन) तथा जरा (वृद्धावस्था) आदि सभी रोग निर्मूल हो जाते हैं। अर्थात् उसे उक्त प्रकार के कष्टदायक रोग नहीं झेलने पड़ते ॥८५-८६॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा यश्चन्द्रे सलिलं पिबेत्।
मासमात्रेण योगीन्द्रो मृत्युं जयति निश्चितम् ॥८७॥
राजदन्तबिलं गाढं संपीड्य विधिना पिबेत्।
ध्यात्वा कुण्डलिनी देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥८८॥

जो योगी अपनी जिह्वा को ऊपर की ओर उठाकर चन्द्रमा से स्रवित होते हुए अमृत का रसास्वादन करता है वह निश्चित रूप से एक महीने के अन्दर ही मृत्यु पर विजय पा लेता है। जीभ को उलटकर गलघंटिका के पीछे तालुमूल में लगाकर उससे टपकते हुए अमृत का पान करना खेचरी मुद्रा कहलाती है।

अपने निचले दाँत से राजदन्त को दबाकर उसके छिद्र से विधिपूर्वक वायुपान तथा कुण्डलिनी देवी का ध्यान करने वाला साधक छह महीने में ही कवि बन जाता है ॥८७-८८॥

काकचञ्च्वा पिबेद्वायुं सन्ध्ययोरुभयोरपि।
कुण्डलिन्या मुखे ध्यात्वा क्षयरोगस्य शान्तये ॥८९॥
अहर्निशं पिबेद्योगी काकचञ्च्वा विचक्षणः।
पिबेत्प्राणानिलं तस्य रोगानां संक्षयो भवेत्।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिस्तथा स्याद्दर्शनं खलु ॥९०॥

उक्त कथित काकचंचु की मुद्रा द्वारा दोनों सन्ध्याओं में कुंडलिनी की मुखाकृति का ध्यान करता हुआ प्राणवायु का पान करने वाला साधक क्षयरोग (तपेदिक, टी.बी.) से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। जो योगसाधक काकचंचु मुद्रा की सहायता से दिन-रात प्राणवायु का पान किया करता है उसके सभी रोग निःसन्देह रूप से

विनष्ट हो जाते हैं। उसमें दूर की बातें सुनने तथा दूर तक देखने की शक्ति भी आ जाती है। ऐसा योगी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर पदार्थों के अवलोकन में भी सक्षम हो जाता है ॥८९-९०॥

दन्ते दंतान् समापीड्य पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
उर्द्ध्वजिह्वः सुमेधावी मृत्युं जयति सोऽचिरात् ।।९१।।
षण्मासमात्रमभ्यासं यः करोति दिने दिने ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो रोगान्नाशयते हि सः ।।९२।।

जो प्रबुद्ध पुरुष दाँत से दाँत का संपीड़न कर तथा जीभ को ऊपर उठाकर धीरे-धीरे प्राणवायु को पीता है वह शीघ्र ही मृत्यु को विजित कर दीर्घायु बन जाता है। इस प्रकार का अभ्यास प्रतिदिन करने वाला व्यक्ति छह महीने में ही समस्त पापों से रहित होकर सभी रोगों का उन्मूलन कर डालता है ॥९१-९२॥

संवत्सरकृताभ्यासान्मृत्युं जयति निश्चितम् ।
तस्मादतिप्रयत्नेन साधयेद्योगसाधकः ।।९३।।
वर्षत्रयकृताभ्यासाद्भैरवो भवति ध्रुवम् ।
अणिमादिगुणान् लब्ध्वा जितभूतगणःस्वयम् ।।९४।।

उक्त प्रकार का अभ्यास निरन्तर एक वर्ष तक करने वाला साधक निश्चय ही मृत्यु को विजित कर लेता है। अतः योगसाधक को इस क्रिया की अवश्य ही साधना करनी चाहिए। ऐसी साधना लगातार तीन वर्ष तक करने वाला भैरव के समान पराक्रमी होकर अणिमादिक अष्टसिद्धियों को हस्तगत कर लेता है। साधक के अधीन समस्त प्राणी स्वतः ही हो जाया करते हैं ॥९३-९४॥

रसनामूर्द्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ।
क्षणेन मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ।।९५।।
रसनां प्राणसंयुक्तां पीड्यमानां विचिन्तयेत् ।
न तस्य जायते मृत्युः सत्यं सत्यं मयोदितम् ।।९६।।

यदि योगी अपनी जिह्वा को क्षणार्ध मात्र पलटकर तालुमूल में लगा ले तो वह सभी रोगों से विमुक्त होकर वृद्धावस्था पर विजय पा लेता है। अर्थात् खेचरी मुद्रा के द्वारा अमृतपान के फलस्वरूप वह अमरत्व की सिद्धि कर लेता है। हे देवि ! प्राण के साथ जिह्वा का संपीड़न कर ब्रह्मरन्ध्र में ध्यानावस्थित हो जाने वाले साधक को कभी मरण का भय नहीं सताता। मेरा यह कथन बिलकुल ही सत्य है ॥९५-९६॥

एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैव मूर्च्छा प्रजायते ।।९७।।
अनेनैव विधानेन योगीन्द्रोऽवनिमण्डले ।
भवेत्स्वच्छन्दचारी च सर्वापत्परिवर्जितः ।।९८।।

न तस्य पुनरावृत्तिर्मोदते स सुरैरपि ।
पुण्यपापैर्न लिप्येत एतदाचरणेन सः ।।९९।।

उक्त प्रकार का योगाभ्यासी दूसरे कामदेव के समान रूपवान बन जाता है। उसे क्षुधा-पिपासा, निद्रा या मूर्च्छा रोग से क्लेशित नहीं होना पड़ता। इस रीति से अभ्यास करने वाला, पुरुष समस्त सांसारिक कष्टों से विरहित होकर स्वेच्छानुसार आचरण करने में सक्षम हो जाता तथा विपत्तियों की छाया से दूर रहता है। ऐसे योगी में, किसी प्रकार के पाप-पुण्य में फँसने की सम्भावना भी नहीं रह जाती और न ही उसे इस संसार में पुनर्जन्म ही लेना पड़ता है। वह देवलोक में देवताओं के साथ नित्य ही विहार किया करता है ।।९७-९९।।

योगासन के प्रकार

चतुरशीत्यासनानि सन्ति नानाविधानि च ।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय मयोक्तानि ब्रवीम्यहम् ।।
सिद्धासनं ततः पद्मासनं चोग्रं च स्वस्तिकम् ।।१००।।

योगासन के अनेक भेद बतलाये गये हैं जिसमें मुख्यतया चौरासी आसनों को माना गया है, किन्तु उनमें भी चार आसन सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन और स्वस्तिकासन अतिविशिष्ट कहे गये हैं। इन आसनों के अभ्यास द्वारा नाड़ी-मल का विशुद्धिकरण हो जाता है। प्राणायाम-काल में वायु धारण करने पर साधक को कष्ट की प्रतीति नहीं होती। इन आसनों के प्रयोग से प्रधान नाड़ी शीघ्र ही वशवर्तिनी हो जाती है ।।१००।।

सिद्धासन

योनिं संपीड्य यत्नेन पादमूलेन साधकः ।
मेढ्रोपरि पादमूलं विन्यसेत् योगवित्सदा ।।१०१।।
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलः संयतेन्द्रियः ।
विशेषोऽवक्रकायश्च रहस्युद्वेगवर्जितः ।
एतत्सिद्धासनं ज्ञेयं सिद्धानां सिद्धिदायकम् ।।१०२।।

योगविद् साधक को चाहिए कि वह योनिस्थल को एक पैर की एड़ी से संपीड़ित कर दूसरे पैर की एड़ी को जननेन्द्रिय के मूल भाग में लगा ले। तदनन्तर विजितेन्द्रियावस्था में अपने शरीर को एक सीध में रखकर दोनों भौंहों के बीच में निर्निभेष दृष्टि (अपलक दृष्टि) जमा ले। ऐसे समय में उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपने में किसी प्रकार की मानसिक विशृंखला न उत्पन्न होने दे। अर्थात् उसे शांत मन और निश्चल दृष्टि से आसन लगाकर बैठना चाहिए। इसे सिद्धगणों के लिए सिद्धिप्रदायक सिद्धासन के नाम से जाना जाता है ।।१०१-१०२।।

येनाभ्यासवशात् शीघ्रं योगनिष्पत्तिमाप्नुयात् ।
सिद्धासनं सदासेव्यं पवनाभ्यासिना परम् ।।१०३।।
येन संसारमुत्सृज्य लभते परमां गतिम् ।
नातः परतरं गुह्यमासनं विद्यते भुवि ।।
येनानुध्यानमात्रेण योगी पापाद्विमुच्यते ।।१०४।।

इस प्रकार के अभ्यास से शीघ्र ही योग का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस आसन का प्रयोग वायुरोधी अभ्यासकर्ता के लिए परमावश्यक है। इसके परिणामस्वरूप साधक भव-सागर से उत्तीर्ण होकर परमपद को पा लेता है। यह सिद्धासन समस्त आसनों में अत्यन्त गोपनीय एवं सर्वोत्तम माना जाता है। इसके ध्यानमात्र से ही योगी सभी पापों से विमुक्त हो जाता है ।।१०३-१०४।।

पद्मासन

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा तु तादृशौ ।।१०५।।
नासाग्रे विन्यसेद्दृष्टिं दन्तमूलं च जिह्वया ।
उत्तोल्य चिबुकं वक्ष उत्थाप्य पवनं शनैः ।।१०६।।
यथाशक्त्या समाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
यथाशक्त्यव पश्चात्तु रेचयेदविरोधतः ।।१०७।।
इदंपद्मासनं प्रोक्तं सर्व व्याधिविनाशनम् ।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते परम् ।।१०८।।

सर्वप्रथम दोनों पैरों को सीधा फैलाकर उन्हें चेष्टापूर्वक जाँघ पर रख लें। पुनः दोनों हाथों को भी पैर की ही भाँति सीधा फैलाकर जाँघों के बीच में से निकालें और अपनी दृष्टि को नासिका के अगले भाग पर जमा लें। तदनन्तर जिह्वा को दंतमूल में रखकर वक्षःस्थल पर ठुड्डी को बैठा ले तथा अधोवायु को ऊपर की ओर उत्थित कर शक्त्यानुसार धीरे-धीरे पूरक प्राणायाम द्वारा प्राणवायु को स्थिर करे। तत्पश्चात् रेचक प्राणायाम द्वारा अवरुद्ध वायु को धीरे-धीरे निष्कासित कर दें।

इसी प्रकार के अभ्यास को पद्मासन कहा जाता है। यह पद्मासन समस्त रोगों का विनाशक और परम दुर्लभ होता है। इस आसन की प्रक्रिया का भलीभाँति ज्ञान रखने वाला साधक ही इसमें सफल हो सकता है ।।१०५-१०८।।

अनुष्ठाने कृते प्राणः समश्चलति तत्क्षणात् ।
भवेदभ्यासने सम्यक् साधकस्य न संशयः ।।१०९।।
पद्मासने स्थितो योगी प्राणापानविधानतः ।
पूरयेत्स विमुक्तःस्यात्सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ।।११०।।

पद्मासन के अभ्यासी साधक के प्राण समरूप होकर सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो

जाया करते हैं जिसके फलस्वरूप नि:सन्देह ही साधक की साम्यावस्था हो जाती है। देवी पार्वती से शिवजी कहते हैं कि पद्मासन लगाकर अपने प्राण-अपान वायु को एकीकृत कर लेने वाला साधक निश्चय ही इस संसार-सागर से पार उतर जाता है ॥१०९-११०॥

उग्रासन

प्रसार्य चरणद्वन्द्वं परस्परमसंयुतम् ।
स्वपाणिभ्यां दृढं धृत्वा जानूपरि शिरोन्यसेत् ।।१११।।
आसनोग्रमिदं प्रोक्तं भवेदनिलदीपनम् ।
देहावसानहरणं पश्चिमोत्तानसंज्ञकम् ।।११२।।
य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत् सुधीः ।
वायुः पश्चिममार्गेण तस्य संचरति ध्रुवम् ।।११३।।

इस आसन का अभ्यास करने के लिए दोनों पैरों को परस्पर मिलाकर उन्हें फैला दें। पुन: दोनों हाथों से पैर के अँगूठों को कसकर पकड़ें और घुटने पर शिर को टिका दें। इसी को उग्रासन कहा जाता है। इसके द्वारा वायु का प्रज्वलन तथा मृत्यु का भी निवारण होता है। इस आसन को पश्चिमोत्तान आसन के नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि इसके अभ्यासी का वायु पश्चिममार्गवाही होकर शरीर में संचरण करने लगता है। अत: प्रबुद्ध साधकों को प्रतिदिन इसका अभ्यास नियमपूर्वक करना चाहिए ॥१११-११३॥

एतदभ्यासशीलानां सर्वसिद्धिः प्रजायते ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन साधयेत् सिद्धमात्मनः ।।११४।।
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
येन शींघ्र मरुत्सिद्धिर्भवेद्दुःखौघनाशिनी ।।११५।।

इस प्रकार के अभ्यासशील साधक में समस्त सिद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यह आसन परम गोपनीय है। इसे किसी अनधिकारी और अयोग्य व्यक्ति से नहीं बतलाना चाहिए। इस आसन के परिणामस्वरूप वायु को शीघ्र ही वश में लाया जा सकता है तथा सभी प्रकार के रोगों और कष्टों से सहज ही छुटकारा मिल जाया करता है। अतएव आत्मसिद्धि हेतु इस आसन का अभ्यास प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य कहा गया है ॥११४-११५॥

स्वस्तिकासन

जानूर्वोरन्तरे सम्यग् धृत्वा पादतले उभे ।
समकायः सुखासीनः स्वस्तिकंतत्प्रचक्षते ।।११६।।
अनेन विधिना योगी मारुतं साधयेत् सुधीः ।
देहेन क्रमते व्याधिस्तस्य वायुश्च सिध्यति ।।११७।।

सुखासनमिदं प्रोक्तं सर्वदुःखप्रणाशनम् ।
स्वस्तिकंयोगिभिर्गोप्यं स्वस्तीकरणमुत्तमम् ।।११८।।

स्वस्तिकासन के लिए घुटनों और जाँघों के बीच में भली प्रकार से पैर के तलुए को जमाकर साम्यावस्था में बैठना ही स्वस्तिकासन कहा जाता है । इस आसन के द्वारा साधक शरीरस्थ वायु को अविलम्ब वशवर्ती बना लेने में सक्षम हो जाता है । इसके द्वारा शरीर में रोगोत्पत्ति नहीं होती । इस आसन को सहज रूप से सम्पन्न कर लिये जाने के कारण ही इसे सुखासन भी कहा जाता है । इस सर्वोत्तम आसन को सदैव ही गुप्त रखना उचित है ।।११६-११८।।

इति श्रीशिवसंहितायां शिवगौरीसंवादे योगाभ्यासकथनं नाम तृतीय पटलः सम्पूर्णम् ।।३।।

इस प्रकार श्रीशिवसंहिता के योगाभ्यास कथन नामक तीसरे पटल की पं० हरिहरप्रसाद त्रिपाठीकृत हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ।।३।।

◆

चतुर्थ पटलः

मुद्रा वर्णन

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रवर्तते ।।१।।

सर्वप्रथम योगाभ्यासी ओंकारमूलक प्राणायाम के द्वारा वायु को कर्षित करके उसे मूलाधार चक्र में स्थापित कर दे । तत्पश्चात् मलद्वार तथा जननेन्द्रिय के मध्यवर्ती योनिस्थान का चेष्टापूर्वक संकोचन करे । अब यहाँ नीचे की पंक्तियों में योनिमुद्रा का विशद वर्णन किया जा रहा है ।।१।।

योनिमुद्रा

ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुकसन्निभम् ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।।२।।
तस्योर्ध्वं तु शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला ।
तथा सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ।।३।।

ब्रह्मयोनि के मध्य गेंद के समान धवल तथा करोड़ों-करोड़ सूर्य की आभा के सदृश देदीप्यमान एवं करोड़ चन्द्रमाओं के समान शीतलतायुक्त कामदेव का ध्यान धारण करना चाहिए । उसी के ऊपर सूक्ष्म ज्योति के समान चमकीली, चिद्रूप तथा परमकला के सहित एक ही आत्मा का ध्यान करे, क्योंकि ब्रह्मयोनि के ऊपर सूक्ष्म जयोतिशिखा के रूप में आत्मा की वर्तमानता रहती है । अतः साधक के लिए वही ध्यातव्य है ।।२३।।

गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिङ्गत्रयक्रमेण वै ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।।४।।
अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्दलक्षणम् ।
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षिणम् ।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ।।५।।

प्रत्येक जीव उसी ब्रह्मयोनिपथ से सुषुम्ना नाड़ी मार्ग द्वारा क्रमानुसार लिंगत्रय से गमन करता है । देहधारी में तीन प्रकार के लिंग कहे गये हैं, जैसे— १. स्थूल, २. सूक्ष्म और ३. कारण । मृत्यु के उपरान्त ये तीनों लिंग अर्थात् स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर नहीं रह जाते है । करोड़ों सूर्य की कांति वाले, करोड़ों चन्द्र की शीतलता वाले, श्वेत तथा रक्त वर्ण वाले परमानन्दरूप एवं अमृत की धारावाही वर्षा करने वाले स्वर्गस्थ अलौकिक कलामृत का पान करके पुनः योनिमण्डल में अवस्थित हो जाता है ।।४-५।।

पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा ।
सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मिंस्तन्त्रे मयोदिता ।।६।।
पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशिवात्मकम् ।
योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ।।७।।
तस्यास्तु बन्धमात्रेण तन्नास्ति यं न साधयेत् ।।८।।

इसके अनन्तर प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु ब्रह्मयोनिमार्ग से प्रस्थित होता है । इसे मिथ्या नहीं समझना चाहिए । मैंने उसी ब्रह्मयोनि को प्राणसंज्ञक भी कहा है । तत्पश्चात् वह जीव कालाग्नि से समन्वित शिवरूप होकर गमन करता हुआ चन्द्रमण्डल में जाकर अमृतपान करता तथा पुनः लौटकर ब्रह्मयोनि में ही अवस्थित हो जाया करता है । इसी बन्ध को योनिमुद्रा कहते हैं । केवल एक अकेले इस बन्ध के करने से प्राणी के लिए इस जगत में कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं रह जाती है । इस योनिमुद्रा की सिद्धि होने पर सभी सिद्धियाँ सहज ही आ जाती हैं ।।६-८।।

छिन्नरूपास्तु ये मन्त्राः कीलिताः स्तम्भिताश्च ये ।
दग्धामन्त्राः शिरोहीना मलिनास्तु तिरस्कृताः ।।९।।
मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः ।
भेदिनो भ्रमसंयुक्ताः सप्ताहं मूर्च्छिताश्च ये ।।१०।।

जो मंत्र छिन्न-भिन्नस्वरूप, कीलित, स्तम्भित, दग्ध, मुंडविहीन, मलिन या अनादृत है अथवा जो बाल (अल्प प्रभावयुक्त), वृद्ध (समग्र प्रभाव वाले), प्रौढ़ (मध्यम प्रभावशील), यौवनगर्वित (प्रचण्ड स्वभाव वाले), भेदयुक्त (भ्रमान्वित करने वाले) तथा सप्ताहों से निष्क्रिय पड़े हैं ।।९-१०।।

अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्यः सत्त्ववर्जिताः ।
तथा सत्त्वेन हीनाश्च खंडिताः शतधाकृताः ।।११।।
विधिनानेन संयुक्तः प्रभवन्त्यचिरेण तु ।
सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः ।।१२।।

अथवा ऐसे मन्त्र जो शत्रु के लिए लाभकारी हैं या जो निस्तेज और सत्त्वहीन हैं या जो सत्त्वविहीन होने के साथ-ही-साथ खंडित होकर सैकड़ों टुकड़ों में बिखर गये हैं, वे सभी मन्त्र उक्त योनिमुद्रा की सिद्धि होने या गुरु द्वारा प्रदत्त उपदेशानुसार कार्य करने पर सिद्ध, प्रभावशाली और मोक्षदाता हो जाते हैं ॥११-१२॥

यद्यदुच्चरते योगी मंत्ररूपं शुभाशुभम् ।
तत्सिद्धिंसमवाप्नोति योनिमुद्रानिबन्धनात् ।।१३।।
दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिञ्च्य सहस्रधा ।
ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता ।।१४।।

योगी के द्वारा मन्त्रोच्चार काल में जो भी मन्त्र शुद्धाशुद्ध रूप से उच्चरित हुआ करते हैं वे सभी इस योनिमुद्रा के बन्ध से शुद्ध एवं सिद्धिप्रद हो जाते हैं। अपने जिज्ञासु साधक शिष्य के प्रति गुरु का भी यह कर्तव्य होता है कि वह शिष्य के मन्त्र ग्रहणार्थ उसे इस योनिमुद्रा की दीक्षा देकर उससे इसका अभ्यास सहस्रों बार कराता रहे। गुरु को अपने शिष्य से किसी रहस्य का गोपन करना भी उचित नहीं है ॥१३-१४॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ।
नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात् ।।१५।।
गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न बध्येत् योनिमुद्रानिबन्धनात् ।।१६।।

साधक द्वारा सहस्रों जीवहिंसा करने या त्रैलोक्य के समस्त प्राणियों का वध कर डालने पर भी उसे इस मुद्रा के फलस्वरूप पाप में लिप्त नहीं होने पड़ते। गुरुहन्ता, सुरापानक, चौरकर्मकारक, गुरुशैय्या में रमणकर्ता या इसी प्रकार के अन्य पापों का पातकी साधक भी योनिमुद्रा की सिद्धि पा लेने पर पापकर्मों का फल नहीं भोगता ॥१५-१६॥

तस्मादभ्यासनं नित्यं कर्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः ।
अभ्यासाज्जायते सिद्धिरभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात् ।।१७।।
संविदं लभतेऽभ्यासात् योगोऽभ्यासात्प्रवर्तते ।
मुद्रिणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम् ।।१८।।

मोक्षार्थी साधक का यह आवश्यक कर्म है कि वह नित्यप्रति योनिमुद्रा की साधना में संलग्न रहे। अभ्यास की सिद्धि मिलने पर अन्य सिद्धियाँ भी मिलती तथा उसी के द्वारा वह मुक्ति पाने का अधिकारी भी बनता है। अभ्यास के द्वारा ही ज्ञानोत्पत्ति, योग में प्रवृत्ति तथा वायुसाधना की सिद्धि भी सम्भव होती है ॥१७-१८॥

कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् ।
वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेदभ्यासयोगतः ।।१९।।
योनिमुद्रा परं गोप्या न देया सस्य कस्यचित् ।
सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि ।।२०।।

अभ्यास के द्वारा ही काल को लाँघकर मृत्युजयी बनने का गौरव भी प्राप्त किया जा सकता है। उसी से वाक्सिद्धि तथा अभीप्सित आचरण की शक्ति भी मिलती है। अतएव योगाभ्यासी को निरन्तर अभ्यासपरायण रहना चाहिए। यह योनिमुद्रा अतीव गोपनीय होती है। इसे कभी किसी अयोग्य या अनधिकारी व्यक्ति से प्राण के कंठगत हो जाने पर भी नहीं बतलाना चाहिए ॥१९-२०॥

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम् ।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम् ।।२१।।
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ।।२२।।

शिवजी कहते हैं कि हे देवि ! अब में जिस योग-प्रक्रिया का वर्णन करने जा रहा हूँ वह परमोत्कर्षकारक और अत्यन्त सिद्धिप्रदायक है। कठिनता से सिद्ध होने वाली इस दुर्लभ विद्या को गुप्त रखना ही उत्तम सिद्ध पुरुषों का आवश्यक कर्तव्य है। गुरु के अनुग्रह से अर्थात् उनके कथनानुसार जब सोयी हुई कुंडलिनी जाग उठती है तब सभी पद्म-दलों (चक्रों) तथा सभी गाँठों का भेदन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कुंडलिनी के साथ सुषुम्नापथ से ब्रह्मरन्ध्र तक प्राणवायु का संचरण सुगमतापूर्वक होने लगता है ॥२१-२२॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ।।२३।।

साधक को सभी प्रयासों के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र-विवर को अवरुद्ध कर सुप्तावस्था में पड़ी हुई कुंडलिनी को जगाने के लिए उसे मुद्राभ्यास में लग जाना चाहिए, क्योंकि कुंडलिनी के जाग्रत न होने तक मोक्षद्वार के कपाट नहीं खुलते ॥२३॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्तथा ।।२४।।
उड्डानं चैव वज्रोली दशमं शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम् ।।२५।।

योगसाधना में प्रमुखतः दश मुद्राएँ बतलायी गयी हैं जो इस प्रकार से हैं, जैसे— (१) महामुद्रा, (२) महाबन्ध, (३) महावेध, (४) खेचरी मुद्रा, (५) जालंधरबन्ध, (६) मूलबन्ध, (७) विपरीतकरणी मुद्रा, (८) उड्डीयान बन्ध, (९)

वज्रोली मुद्रा तथा (१०) शक्तिचालिनी मुद्रा । उक्त दश प्रकार की मुद्राएँ समस्त मुद्राओं में सर्वोत्तम हैं ॥२४-२५॥

महामुद्रा

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम वल्लभे ।
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः ॥२६॥

शिवजी देवी पार्वती के प्रति उन्मुख होकर कहते हैं—हे प्राणवल्लभे ! मैं इस तन्त्र में जिन-जिन मुद्राओं का कथन कर रहा हूँ उन-उन मुद्राओं की साधना से ही सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल आदि प्राचीन ऋषि-मुनियों ने सिद्धि उपलब्ध की थी ॥२६॥

अपसव्येन संपीड्य पादमूलेन सादरम् ।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम् ॥२७॥
सव्यं प्रसारितं पाद धृत्वा पाणियुगेन वै ।
नव द्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥२८॥
चित्तं चित्तपथे दत्त्वा प्रभवेद्वायुसाधनम् ।
महामुद्रा भवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥२९॥
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत्पुनः ।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥३०॥

इस मुद्रा की सम्पन्नता हेतु बाएँ पैर को मोड़कर उसकी एड़ी को गुदाद्वार और शिश्न के मध्य वाले योनिस्थान (सीवन) से लगाकर आदरपूर्वक गुरु के उपदेशानुसार दबाएँ। अब दाहिना पैर सीधा फैलाकर उसे दोनों हाथों से पकड़ लें। तदनन्तर शरीर के अन्य नव द्वारों (छिद्रों) को रोककर अपनी ठुड्डी को हृदय पर स्थापित कर दें। पुनः चैतन्यस्वरूप में अपनी चित्तवृत्ति को स्थिर करके वायु की साधना करे । इस महामुद्रा को सभी तन्त्रों में गुप्त रखने का आदेश दिया गया है। इस मुद्रा का अभ्यास पहले वामांग और पुनः दक्षिणांग से करने का विधान है । संयत चित्त वाले योगाभ्यासी को यह प्राणायाम समान रूप से करणीय है ॥२७-३०॥

अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योऽपि सिध्यति ।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम् ॥३१॥
जीवनं तु कषायस्य पातकानां विनाशनम् ।
कुण्डलीतापनं वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम् ॥३२॥

इस प्रक्रिया के अपनाने से हतभाग्य योगी भी सिद्धिलाभ कर लेना है, क्योंकि इसकी प्रभावशालिता से सम्पूर्ण नाड़ियों का परिचालन होकर बिन्दु (वीर्य) का स्थिरीकरण हो जाता है । उक्त प्रकार का अभ्यास जीवन में स्थिरता लाने तथा समस्त पाप-पुंजों का नाश करने हेतु होता है । इसके परिणामस्वरूप उसमें कुंडलिनी को

जाग्रत कर प्राण के साथ ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचाने की शक्ति आ जाती है ॥३१-३२॥

सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम् ।
वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम् ।।३३।।
वांछितार्थफलंसौख्यमिंद्रियाणाञ्च मारणम् ।
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः ।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा ।।३४।।

इस प्रकार की युक्ति से समग्र रोग उपशमित होकर क्षुधाग्नि का वर्धन होता है। इसके द्वारा शरीर सौन्दर्यमय, स्वच्छ तथा दीप्तिमान हो उठता है और इसके साथ ही जरा-मरण का भी उन्मूलन हो जाता है। ऐसा साधक समस्त अभिलषित पदार्थों को प्राप्त कर सुखानुभव करता हुआ इन्द्रियदमन में भी सक्षम हो जाता है। इससे मिलने वाले जो भी लाभ कहे गये हैं वे सभी योगाभ्यासी को उपलब्ध होते हैं। इसमें सोच-विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥३३-३४॥

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ।
यान्तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः ।।३५।।
मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता ।
गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ।।३६।।

शिवजी ने पार्वती से कहा—हे देवों द्वारा पूजित देवि ! मेरे द्वारा कथित इस मुद्रा को सदैव ही गुप्त रखना चाहिए। इसका कथन उन्हीं लोगों से करना चाहिए जिनमें इसके प्रति अभिरुचि हो। इसकी उपलब्धि से योगिजन भवार्णव (संसार-सागर) से पार हो जाते हैं। यह मुद्रा कामधेनु गाय (एक स्वर्गीय गाय जो सभी आंकाक्षाओं की पूर्ति कर देती है) के समान सभी फलों को देने वाली है। इसका साधन चुपचाप गुप्त रूप से करना आवश्यक होता है। इसे कभी किसी अनधिकारी या अयोग्य पुरुष से नहीं कहना चाहिए ॥३५-३६॥

महाबन्ध मुद्रा

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि ।।३७।।
गुदयोनिं समाकुञ्च्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम् ।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ।।३८।।

तत्पश्चात् पैर को फैलाकर बायीं जाँघ पर दाएँ पैर को स्थापित कर दें और गुदाद्वार तथा योनिस्थान (सीवन) का संकोचन कर अपानवायु को ऊपर की ओर ले जायँ ताकि वह समान वायु के साथ मिलित होकर प्राणवायु को नीचे की ओर उतार दे। अर्थात् प्राणवायु का गमन नीचे की ओर हो जाय ॥३७-३८॥

बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः ।
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ।।३९।।

नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं यान्ति योगिनः ।
उभाभ्यां साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः ।।४०।।

प्राण-अपान को एकीकृत करने हेतु जो प्रबुद्ध साधक इस बन्ध का अभ्यास करता है उसके लिए यह सकलीभूत होता है। अथवा योगी के नाड़ीजाल से रस-समूह शिरोभाग में प्रवाहित होता है अर्थात् ऊर्ध्व भाग में गमनशील हो उठता है। अतः मुद्रा एवं बन्ध— इन दोनों को ही प्रत्येक अंग द्वारा भली प्रकार से करना आवश्यक हैं ।।३९-४०।।

भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्णामव्यसङ्गतः ।
अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपञ्जरे ।।४१।।
सम्पूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ।
बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् ।।४२।।

इस प्रकार का अभ्यास सुषुम्ना नाड़ी में प्राणवायु को स्थिर कर देता है तथा अभ्यासी के शरीर का पुष्टिवर्धन भी करता है। इसके द्वारा योगाभ्यासी के सभी अस्थि-समूहों तथा बन्धनों का दृढ़ीकरण हो जाता है। ऐसे योगी का हृदय पूरी तरह से परितुष्ट रहता और उसकी अभिलाषाएँ पूरी हो जाती है। वह अपने सर्वाभीष्ट को प्राप्त कर लेता है ।।४१-४२।।

महावेध

अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि ।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना ।
स्फिचौसंताडयेद्धीमान् वेधोऽयं कीर्तितो मया ।।४३।।
वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुङ्गवः ।
ग्रन्थिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ।।४४।।

हे त्रिभुवनेश्वरि ! महाबन्ध में अवस्थित योगी के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने प्राण-अपान वायु का एकीकरण करके उदर में वायु का संचयन कर ले। तत्पश्चात् वह दोनों कूल्हों के दोनों ओर का ताड़न करे। यह वेध मेरे द्वारा कथित है। योगियों में उत्तम साधक इस वेध का अभ्यास करता हुआ सुषुम्ना-पथ से ब्रह्मग्रन्थि के भेदन का प्रयास करता है। इस बन्ध में कुशल योगी ही सफल होकर अभीप्सित पदार्थों की उपलब्धि कर सकता है ।।४३-४४।।

यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम् ।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी ।।४५।।
चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात् ।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते ।।४६।।

जो प्राणी इस श्रेष्ठतम महावेध को गुप्त रखकर निरन्तर अभ्यासशील रहा

करता हैं उसे जरा-मरणनाशक वायु की सिद्धि मिल जाती है। शरीरस्थ षट्चक्रों (आधार, स्वाधिठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध तथा आशाचक्र) में निवसित देवता—गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा अग्नि आदि वायु के प्रताड़न से कम्पित हो उठते हैं और महामायास्वरूपा कुंडलिनी शक्ति ब्रह्मस्थान में विलीन हो जाती है। तात्पर्य यह है कि वायु का दबाव वेगपूर्वक पड़ने के फलस्वरूपं वे सभी देवता अपने-अपने स्थान का परित्याग का देते हैं जिससे उन स्थानों में प्राणवायु का प्रवेश सुगमता से हो सकता है ॥४५-४६॥

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलो वेधवर्जितौ ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् ।।४७।।
एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः ।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः ।।४८।।

वेध के अभाव में महामुद्रा और महाबन्ध— ये दोनों ही सफल नहीं हो सकते। अतएव योगाभ्यासी को चेष्टापूर्वक इन तीनों ही साधनों का अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए। जो पुरुष मुद्रा, बन्ध और वेध— इन तीनों का चार बार अभ्यास नित्य करता है वह छह महीने के अभ्यास द्वारा मृत्यु पर विजय पा लेता है। इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह करना अनावश्यक होता है ॥४७-४८॥

एतत्त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः ।
यज्ज्ञात्वा साधकाः सर्वेसिद्धिं सम्यक् लभन्ति वै ।।४९।।
गोपिनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः ।
अन्यथाचन सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः ।।५०।।

मुद्रा, बन्ध और वेध—इन तीनों की महत्ता से केवल सिद्ध पुरुष ही परिचित होते हैं, अन्य कोई भी इसे नहीं जान सकता। उक्त तीनों साधनों के ज्ञानोपरान्त साधक सम्पूर्ण सिद्धियों को प्राप्त करने में सफल हो जाता है। सिद्धाभिलाषी साधक के लिए उचित है कि वह ऐसे अभ्यास को सदैव गुप्त ही रखे। इस अभ्यास का कथन किसी सामान्य व्यक्ति से करने पर साधक को सिद्धि मिलना सम्भव नहीं होता ॥४९-५०॥

खेचरीमुद्रा

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढा सुधीः ।।५१।।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः ।
लंबिकोर्ध्व स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम् ।।५२।।
संयोजयेत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः ।।५३।।

इस मुद्रा के लिए प्रबुद्ध साधक को दोनों भौंहों के मध्यवर्ती स्थान में अपनी दृष्टि जमाकर उपद्रवविहीन सिद्धासन में बैठना आवश्यक है। अपनी जीभ को जिह्वाविवर

में ले जाकर अमृतरूप उस कूप में अर्थात् तालुमूल में स्थापित कर दें। अभिप्राय यह है कि जीभ को पलटकर गलघंटिका के पीछे तालु से सटा दें तो यह खेचरी मुद्रा कही जाती है। इसे मैंने भक्तों के हितार्थ ही प्रकाशित किया है ॥५१-५३॥

सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया ।
निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूष प्रत्यहं पिबेत् ।
तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥५४॥

शिवजी ने कहा—हे देवि ! यह मुद्रा मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी है। यह समस्त सिद्धियों की उत्पन्नकर्त्री है। इस मुद्रा की साधना करने वाला साधक निश्चित रूप से अमृत-पान करता रहता है। इसके द्वारा साधक को शरीरस्थ देवताओं की सिद्धि मिल जाया करती है और उसे शारीरिक पुष्टता भी प्राप्त होती है। अर्थात् यह खेचरी मुद्रा मृत्युरूप हाथी के वधार्थ सिंह के समान है ॥५४॥

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः ॥५५॥
क्षणार्ध कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम् ।
दिव्यभोगान् प्रभुक्त्वाच सत्कुले स प्रजायते ॥५६॥

कोई भी योगाभ्यासी पवित्र-अपवित्र या किसी भी अवस्था में क्यों न हो, इस खेचरी मुद्रा की सिद्धि से वह सर्वथैव पावन हो जाता है। यह बात निःसन्देह रूप से सत्य है। जो साधक इस मुद्रा का अभ्यास क्षणभर भी कर लेता है वह पापरूपी महासागर से पार जाकर देवलोक में सुखोपभोग करता है। तदनन्तर पुनर्जन्म धारध करने पर उसकी उत्पत्ति किसी कुलीन वंश में होती है ॥५५-५६॥

मुद्रैषा खेचरी यस्तु सुस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः ।
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः ॥५७॥
गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम् ।
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम् ॥५८॥

जो योगाभ्यासी इस खेचरी मुद्रा की साधना करता हुआ स्वस्थ-चित्त से ब्रह्मपरायण रहता है उसे सैकड़ों ब्रह्मा के आयुकाल के विगत हो जाने पर भी वह दीर्घावधि क्षणमात्र ही प्रतीत होती है। जिस साधक को गुरुदीक्षा के फलस्वरूप यह खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाती है उसे अनेक प्रकार के पापाचरण में लिप्त रहने पर भी निर्वाणपद की उपलब्धि हो जाती है। अर्थात् इस मुद्रा की साधना से साधक के सभी पापों का उन्मूलन हो जाता है ॥५७-५८॥

सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मै कस्मै न दीयते ।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ॥५९॥

शिवजी कहते हैं कि हे सुरवन्दिते देवि ! यह मुद्रा प्राणों से भी अधिक प्रिय

है। अतः इसे किसी अयोग्य व्यक्ति से न कहकर सदैव गुप्त ही रखना चाहिए ॥५९॥

जालन्धरबन्ध

बद्धा गलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ॥६०॥
नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्युतम् ।
पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम् ॥६१॥

इस बन्ध के लिए कंठप्रदेश की शिराओं को आबद्ध कर हृदय से ठुड्डी को मिला लें तो यह जालंधरबन्ध कहा जाता है। यह देवताओं के लिए भी दुर्लभ होता है। अर्थात् इसके अभ्यासकाल में गले को नीचे झुकाकर ठोड़ी को हृदय से लगाना पड़ता है। सहस्रार (सहस्रदल कमल) से क्षरित होने वाले अमृत को नाभिप्रदेश में स्थित जठराग्नि सुखा दिया करता है, किन्तु उसे रोकने के लिए जालन्धरबन्ध करना आवश्यकता होता है। इस बन्ध के द्वारा साधक चन्द्रमा से स्रवित होने वाले अमृत का पान स्वयं ही करके कालजयी बन जाता है, क्योंकि जठराग्नि द्वारा अमृत का शोषण कर लेने से ही प्राणी की मृत्यु होती हैं ॥६०-६१॥

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान् ।
अमरत्वञ्चं सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ॥६२॥
जालंधरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः ।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिनासिद्धिमिच्छता ॥६३॥

इस जालंधरबन्ध के परिणामस्वरूप साधक स्वयं ही अमृतपान करने में सक्षम हो जाता और अमरत्व को प्राप्त करता है। इसके द्वारा वह त्रैलोक्य में सुखपूर्वक विहार करता रहता है। यह जालन्धरबन्ध सिद्धिप्राप्त पुरुषों के लिए भी सिद्धिदायक प्रमाणित होता है। इसका निरन्तर अभ्यास करने वाला योगी सिद्धिलाभ करता है ॥६१-६३॥

विशेष सावधानी—पूरक प्राणायाम करने के पश्चात् कुम्भक प्राणायाम-काल में प्राणवायु के अवरोधीकरण में इससे सरलता होती है, किन्तु रेचक के समय इसे खोल देना चाहिए। इस बन्ध की प्रक्रिया अत्यन्त सरल है, किन्तु इसमें सावधानी रखने की आवश्यकता है। इसके अभ्यासकाल में रीढ़ की हड्डी को सीधा रखना चाहिए, अन्यथा उसके टेढ़ी होने की सम्भावना बनी रहती है।

मूलबन्ध

पादमूलेन सम्पीड्य गुदमार्गेषु यन्त्रितम् ॥६४॥
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत् ।
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ॥६५॥
अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम् ।
बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ॥६६॥

गुदाद्वार को सिकोड़कर उसे पैर की एड़ी से दबाएँ तथा अपानवायु को बलात् ऊपर की ओर खींचे। इस क्रिया के द्वारा प्राण-अपान का एकीकरण होता है। इस बन्ध को जरा-मृत्युविनाशक मूलबन्ध के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार प्राण-अपान वायु के मिलन से योनिमुद्रा स्वयं ही सिद्ध हो जाया करती है ॥६४-६६॥

सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः ।
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ।।६७।।
सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ।
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगिपुङ्गवः ।।६८।।

इस योनिमुद्रा की सिद्धि हो जाने पर सिद्ध पुरुषों के लिए इस धरातल पर कोई भी वस्तु दुष्प्राप्य नहीं रह जाती। इस बन्ध के अभ्यास से वायु को सहज ही वश में लाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यदि साधक पद्मासन लगाकर बैठ जाय तो उसमें आकाश-गमन की शक्ति आ जाती है। वह धरती से ऊपर उठकर नभ-मण्डल में विचरने लगता है। इस प्रकार का उत्तम योगी यदि भवसागर से पार जाने का इच्छुक हो तो उसे इसका अभ्यास किसी निर्जन वन में गुप्त रहकर करना उचित होता है ॥६७-६८॥

विपरीतकरणीमुद्रा

भूतले स्वशिरो दत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।।६९।।
एतद् यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः ।
मृत्युं जयति योगीशः प्रलयेनापि सीदति ।।७०।।
कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात् ।
स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः ।।७१।।

यदि कोई योगी अपने शिर को भूमि पर स्थापित कर (शिर के नीचे वस्त्रादि रखकर) अपने दोनों पैरों को आकाश की ओर सीधा खड़ा कर दे तो इसे विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं। इसी को कुछ लोग कपालीमुद्रा भी कहते हैं। इसे अत्यन्त गोपनीय कहा गया है। इस प्रकार की मुद्रा को प्रतिदिन एक प्रहार (३ घण्टा) तक करने वाला योगी मृत्यु पर भी विजय पा लेता है और सृष्टि के प्रलयान्त में भी उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। इस भाँति शरीरस्थ अमृत का जो साधक निरन्तर पान करता रहता है वह निश्चय ही सिद्ध हो जाता है। इस बन्ध का अभ्यासी साधक सर्वत्र पूजनीय माना जाता है ॥६९-७१॥

उड्डयानबन्ध

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत् ।
उड्डयानबन्ध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः ।।७२।।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डयानाख्योऽत्रबन्धोऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी ।।७३।।

इस बन्ध में नाभिस्थल को नीचे-ऊपर से खींचकर आँतों को पीठ से सटा दिया जाता है। इसको उड्डयानबन्ध कहा जाता है। इसके अभ्यास द्वारा पंचवायुओं (प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान) का शुद्धिकरण हो जाता है। इसे बैठकर, खड़े होकर या घुटनों के बल भी किया जा सकता है। यह बन्ध मृत्युरूप हाथी को वश में लाने के लिए सिंह के सदृश है। इसके निरन्तर अभ्यास से यौवन चिरस्थायी रहता है और साधक जन्म-मरण के आवागमन से छूट जाता है ॥७२-७३॥

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने ।
तस्य नाभेस्सु शुद्धिः साद्येन सिद्धोभवेन्मरुत् ।।७४।।
षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम् ।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते ।।७५।।

इस बन्ध का प्रतिदिन चार बार अभ्यास करनेवाले साधक के नाभिप्रदेश का परिशोधन होकर वायु भी परिशोधित हो जाता है। जो योगी इसका अभ्यास सतत छह मास तक कर लेता है वह मृत्यु को विजित करने में भी सक्षम हो जाता है। इसके अभ्यास से क्षुधाग्नि का दीपन, रसवर्धन एवं शरीरस्थ सम्पूर्ण धातुओं का पुष्टिकरण होता है ॥७४-७५॥

अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते ।
रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम् ।।७६।।
गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः ।
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परमदुर्लभम् ।।७७।।

उक्त बन्ध की प्रभावशालितावश योगी का शरीर स्वयमेव ही सिद्धि की ओर अग्रसर होने लगता है जिसके फलस्वरूप उसकी समस्त व्याधियों का नाश हो जाता है। इसकी प्राप्ति गुरु के अनुग्रह से ही सम्भव होती है। इसकी सिद्धि के निमित्त प्रबुद्ध साधक को शान्तचित्त से किसी एकान्त स्थान में बैठकर साधना करनी चाहिए ॥७६-७७॥

वज्रोलीमुद्रा

वज्रोलीं कथयिष्यामि संसारध्वान्तनाशिनीम् ।
स्वभक्तेभ्यः समासेन गुह्याद्गुह्यतमामपि ।।७८।।
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तनियमैर्विना ।
मुक्तो भवति गार्हस्थो वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।।७९।।
वज्रोल्यभ्यासयोगोऽयं भोगे युक्तेऽपि मुक्तिदः ।
तस्मादतिप्रयत्नेन कर्तव्यो योगिभिः सदा ।।८०।।

शिवजी पार्वती से कहते हैं कि हे देवि ! अब मैं अपने भक्तों के हितार्थ सांसारिक अंधकार (अज्ञान) को मिटाने वाली गुह्य से गुह्यतम वज्रोली मुद्रा का कथन कर रहा हूँ। इसके अभ्यास-से शास्त्रकथित नियमों का अनुपालन न करते हुए भी योगी मोक्ष का अधिकारी बन जाता है तथा गृहस्थाश्रमी घर में रहकर स्वेच्छया सभी भोगों का उपभोक्ता हो जाता है। इस वज्रोली मुद्रा की साधना से जब भोगी पुरुष भी मुक्तिलाभ कर लेता है तो फिर योगी का क्या कहना है? अर्थात् योगी के लिए तो इसका अभ्यास करणीय कर्म होता है ॥७८-८०॥

आदौ रजः स्त्रियो योन्याः यत्नेन विधिवत्सुधीः ।
आकुंच्य लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥८१॥
स्वकं बिन्दुश्च सम्बन्ध्य लिंगचालनमाचरेत् ।
दैवाच्चलति चेदूर्ध्वं निबद्धो योनिमुद्रया ॥८२॥

सर्वप्रथम साधक को योनिमार्ग से स्रवित होने वाले रज को अपने लिंगेन्द्रिय-नाल में खींचकर उसे अपने शरीर में प्रविष्ट कराना चाहिए। तदनन्तर वीर्यस्खलन को रोककर जननेन्द्रिय-चालन की क्रिया करता रहे। ऐसी अवस्था में यदि अपने स्थान से वीर्यक्षरण हो जाय तो उसे योनिमुद्रा के द्वारा कदाचित् ऊपर की ओर कर्षित कर लेना चाहिए ॥८१-८२॥

वाममार्गेऽपि तद्बिन्दुं नीत्वा लिंगं निवारयेत् ।
क्षणमात्रं योनितो यः पुमांश्चालनमाचरेत् ॥८३॥
गुरूपदेशतो योगी हुंहुंकारेण योनितः ।
अपानवायुमाकुंच्य बलादाकृष्य तद्रजः ॥८४॥

उक्त रीति से वीर्यक्षरण को रोककर उसे ऊपर की ओर खींचे और वाम भाग में स्थिर कर क्षणमात्र के लिए लिंगचालन की क्रिया को रोक दे। पुनः गुरु के कथनानुसार उसे हुंहुंकार शब्दोच्चार करते हुए दोबारा लिंगचालन क्रिया में संलग्न होना चाहिए। तत्पश्चात् बलपूर्वक अधोवायु का निरोध करके नारी-रज को खींचे। इसी क्रिया को वज्रोली मुद्रा के नाम से जाना जाता है ॥८३-८४॥

अनेन विधिना योगी क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
भव्यभुक् कुरुते योगी गुरुपादाब्जपूजकः ॥८५॥
बिन्दुर्विधुमयो ज्ञेयो रजः सूर्यमयस्तथा ।
उभयोर्मेलनं कार्यं स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥८६॥

इस प्रकार के अभ्यासी साधक को शीघ्र ही योगसिद्धि मिल जाती है तथा वह गुरु चरणकमलानुरागी योगी शरीरस्थ अमृतपान करने में सक्षम बन जाता है। वीर्य को चन्द्ररूप तथा रज को सूर्यरूप समझकर दोनों का संयोजन कर अपने शरीर में प्रवेशित करा देना चाहिए ॥८५-८६॥

अहं बिन्दू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा ।
योगिनां साधनावस्था भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ।।८७।।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणे ।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम् ।।८८।।

जो साधक बिन्दु (वीर्य) को शिवरूप और रज को शक्तिरूप समझकर दोनों का समयोजन करता है वह दिव्य शरीरवान बन जाता है। शिवशक्ति मायास्वरूपिणी होती है। अर्थात् इस माया का सम्बन्ध ईश्वर के साथ स्थापित करा देने या उसमें विलय कर देने पर ही मोक्षप्राप्ति सम्भव होती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बिन्दु और रज का सम्मिलन ही शिव और शक्ति का संगमस्थल है। इसके अभ्यास की सिद्धि पा लेने वाला साधक भवसागर से पार हो जाता है। वीर्यस्खलन से ही साधक की मृत्यु तथा उसके धारण से जीवन की स्थिरता बनी रहती है। तात्पर्य यह है कि रज-वीर्य के मिलनकाल में वीर्यपात होने से उसकी साधना व्यर्थ चली जाती है। अतः साधक के लिए प्रयत्नपूर्वक वीर्य का अभिरक्षण करना अनिवार्य होता है ॥८७-८८॥

जायते म्रियते लोके बिन्दुना नात्र संशयः ।
एतज्ज्ञात्वा सदा योगी बिन्दुधारणमाचरेत् ।।८९।।
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यति भूतले ।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत् ।।९०।।

प्रत्येक जीवधारी का जन्म-मरण बिन्दु (वीर्य) के ही आश्रित होता है, क्योंकि शरीरोत्पत्ति में वीर्य ही प्रमुख कारण होता है। अतः इसके धारण से जीवन और स्खलन से मरण सुनिश्चित होता है। साधक में वीर्यस्खलन की अवरोधक शक्ति आ जाने पर उसके लिए भूमण्डल में कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं होता। अर्थात् वीर्यरक्षण में समस्त सिद्धियाँ समाहित रहती हैं। हे देवि ! वीर्यरक्षण के फलस्वरूप ही जगत् में मेरी महत्ता स्थापित है। अतः बिन्दुरक्षण करने वाला साधक भी मेरे ही समान गरिमामय हो जाता है ॥८९-९०॥

संसारिणां विमूढानां जरामरणशालिनाम् ।।९१।।
अयं च शांकरो योगो योगिनामुत्तमोत्तमः ।।९२।।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति भोगयुक्तोऽपि मानवः ।
सकलः साधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले ।।९३।।

सांसारिक जीवों के सुख-दुःख का मूलभूत कारण बिन्दु को ही माना जाता है। इस प्रकार मूढ़जनों की अज्ञानता का निवारण करने तथा मरणशील मनुष्यों को जरा-मरण के कष्ट से छुड़ाने हेतु यह एक उत्तम साधन का मार्ग है। इसके अभ्यास से भोगी मनुष्य भी अपनी अभिलषित वस्तुओं को निश्चित रूप से पा लेता है। ऐसे साधक को इस भूतल पर कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं होता ॥९१-९३॥

भुक्त्वा भोगानशेषान् वै योगेनानेन निश्चितम् ।
अनेन सकला सिद्धिर्योगिनां भवति ध्रुवम् ।
सुखभोगेन महता तस्मादेनं समभ्यसेत् ।।९४।।

इस वज्रोली मुद्राभ्यास द्वारा विलासी व्यक्ति अशेष फलभोगों का उपभोग कर निश्चय ही सुखी बन जाता है तथा योगियों द्वारा अभ्यास किये जाने पर उसे निःसंदेह रूप से सम्पूर्ण सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाती हैं । अतः इस मुद्रा का अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए । इसके द्वारा अशेष अशुभकारी कर्मफलों का भोग भी सुखपूर्वक भुगता जा सकता है ।।९४।।

अमरोली मुद्रा

सहजोल्यमरोली च वज्रोल्या भेदतो भवेत् ।
येन केन प्रकारेण बिन्दुं योगी प्रचारयेत् ।।९५।।
दैवाच्चलति चेद्वेगे मेलनं चन्द्रसूर्ययोः ।
अमरोलिरियं प्रोक्ता लिंगनालेन शोषयेत् ।।९६।।

वज्रोलीमुद्रा के भेदानुसार ही सहजोली और अमरोली मुद्रा का नामकरण किया गया है। सभी बातों का सारांश यही है कि योगी को हर प्रकार से बिन्दुधारण करना आवश्यक है । यदि अपने स्थान से दैवात् बिन्दु (वीर्य) चलित हो जाय और साथ ही रज-वीर्य का सम्मिलन भी हो जाय तो ऐसी अवस्था को अमरोली मुद्रा कहा जाता है । इस मुद्रा में वीर्यवाहिनी नली द्वारा रज-वीर्य का कर्षण किया जाता है ।।९५-९५।।

सहजोली मुद्रा

गतं बिन्दुं स्वकं योगी बन्धयेद्योनिमुद्रया ।
सहजोलीरियं प्रोक्ता सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।।९७।।
संज्ञाभेदाद्भवेद्भेदः कार्यं तुल्यगतिर्यदि ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः सदा ।।९८।।

योगी को वीर्य के चलायमान हो जाने पर योनिमुद्रा की सहायता से उसका अवरोधीकरण करना आवश्यक है । यह सहजोली मुद्रा सभी तन्त्रों में गोपनीय कही गयी है और इसे ही सहजोली मुद्रा के नाम से अभिहित किया जाता है । अमरोली और सहजोली— इन दोनों मुद्राओं का कार्य एक समान ही होता है, फिर भी इनको दो नामों में विभक्त कर दिया गया है । अतः इन दोनों के अभ्यास प्रयत्नपूर्वक करने चाहिए ।।९७-९८।।

अयं योगो मया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहतः प्रिये ।
गोपनीयः प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्यचित् ।।९९।।
एतद्गुह्यतमं गुह्यं न भूतं न भविष्यति ।
तस्मादेतत्प्रयत्नेन गोपनीयं सदा बुधैः ।।१००।।

देवी पार्वती से शिवजी कहते है कि हे प्रिये ! मैंने इस मुद्रा का प्रकटन केवल भक्तों के स्नेहार्थ किया है, किन्तु यह अत्यन्त गोपनीय है। इसकी गोपनीयता बनाये रखने के लिए इसे हर किसी से नहीं कहना चाहिए। इस वज्रोली मुद्रा से अधिक गुप्त अन्य कोई साधन नहीं है। इतनी गोपनीय मुद्रा न तो कभी भूतकाल में थी और न ही भविष्यत् में होगी। अतः इसे प्रबुद्ध साधक सर्वदा ही गुप्त रखे ॥९९-१००॥

स्वमूत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य वायुना ।
स्तोकं स्तोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्यतत्पुनः ॥१०१॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
बिन्दुसिद्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धिप्रदायिका ॥१०२॥

साधक को गुरूपदिष्ट विधि के अनुसार स्वमूत्र त्यागकाल में मूत्र को वायु द्वारा बलात् खींचकर धीरे-धीरे निकालना चाहिए। तदनन्तर उसे ऊपर की ओर ले जाने का अभ्यास करे। इस प्रक्रिया के द्वारा बिन्दु-साधना सफल हो जाती है। यही बिन्दुसाधना आगे चलकर साधक के लिए परम सिद्धिदायिनी बन जाती है। अभिप्राय यह है कि मूत्रत्याग के समय मूत्रधार को धीरे-धीरे निकालना चाहिए ॥१०१-१०२॥

षण्मासमभ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया ।
शताङ्गनानांभोगेऽपि तस्य बिन्दुर्न नश्यति ॥१०३॥
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति पार्वति ।
ईशत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभं भवेत् ॥१०४॥

यदि उक्त क्रिया का अभ्यास योगी छह महीने तक पूरा कर ले तो सैकड़ों स्त्रियों के समागम से भी उसका शुक्रक्षरण न होगा। हे पार्वति ! प्रयत्नपूर्वक इस सिद्धि को प्राप्त कर लेने पर योगी के लिए अन्य किसी सिद्धि की प्राप्ति शेष नहीं रह जाती। अर्थात् उसमें सम्पूर्ण सिद्धियाँ निहित हो जाती है, क्योंकि इसी वीर्यसिद्धि के प्रभाव से मुझे ईश्वरता की उपलब्धि हुई है ॥१०३-१०४॥

शक्तिचालन मुद्रा

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम् ।
अपानवायुनारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥१०५॥
शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥१०६॥

मूलाधार चक्रस्थ कुंडलिनी शक्ति सुषुप्तावस्था में पड़ी रहती है। उस सोयी हुई कुंडलिनी को जागृत करने के लिए प्रबुद्ध साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपानवायु पर आरोहण कर उसे बलात् कर्षित करके चालित करे। यह समस्त

शक्तियों की प्रदात्री शक्तिचालित मुद्रा है । प्रतिदिन इस मुद्रा के अभ्यास करते रहने से सभी व्याधियों का विनष्टीकरण होकर आयुवर्धन होता है ॥१०५-१०६॥

विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वं भवेत्खलु ।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ।।१०७।।
यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।
येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ।।१०८।।

इस शक्तिचालन की मुद्रा के अभ्यास द्वारा सर्पाकृति सुप्त कुंडलिनी जागकर स्वत: ही सुषुम्नानाड़ी से ऊपर चढ़ने लगती है । अत: सिद्धाकांक्षी योगी को इसका अभ्यास नित्यप्रति करते रहना चाहिए । इसके अभ्यासी का शरीर नि:संदेह रूप से अमरत्व की प्राप्ति कर लेता है और उसे अणिमादिक अष्ट सिद्धियाँ (अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्य, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व) भी हस्तगत हो जाया करती है ॥१०७-१०८॥

विशेष—इस मुद्रा के अभ्यास-काल में सिद्धासन से बैठकर दोनों हाथ की हथेलियों को भूमि पर टिका देना चाहिए । तदनन्तर हाथों के बल दोनों नितम्बों को भूमि से ऊपर उठाकर बीस या पचीस बार पृथिवी पर ताड़न करें । पुन: प्राणवायु को अवरुद्ध कर मूलबन्ध का प्रयोग कर प्राणवायु को अपानवायु के साथ समायोजित कर दें । इस प्रक्रिया द्वारा कुंडलिनी का जागरण हो जाता है, क्योंकि अपानवायु की ऊष्मा पाकर वह सुप्तावस्था से चलायमान हो जाती है । इस मुद्रा के फलस्वरूप शरीरस्थ बहत्तर सहस्र नाड़ियों का मल संशोधित हो जाता है । इस अभ्यास के द्वारा कुंडलिनी का सुषुम्ना मार्ग में प्रवेश करना सम्भव हो जाता है ।

गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः ।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिनाशक्तिनाशनम् ।।१०९।।
यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः ।
युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ।।११०।।
एतत्सुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति ।
एकैकाभ्यासने सिद्धि सिद्धो भवति नान्यथा ।।१११।।

इस मुद्रा का अभ्यास गुरु के उपदेशानुसार करने वाले प्राणी को मरण-भय नहीं रह जाता । यदि इस मुद्रा को साधक दो मुहूर्त तक कर ले तो शक्ति का ह्रास नहीं होने पाता । इसका अभ्यास निरन्तर करते रहने पर तो सम्पूर्ण सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाती हैं । अत: किसी उपयुक्त आसन में बैठकर इसका अभ्यास करना योगी के लिए आवश्यक करणीय कर्म होता है । अत: हे पार्वति ! मेरे द्वारा कथित इन दश अभूतपूर्व मुद्राओं के समान अन्य कोई साधना अब तक न हुई है और न तो आगे

होने की सम्भावना है। इन दशों मुद्राओं में से क्रमशः एक-एक मुद्रा का अभ्यासी साधक निश्चय ही सिद्ध पुरुष हो जाता है ॥१०९-१११॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे मुद्रावर्णनं नाम चतुर्थ पटलः सम्पूर्णम् ॥४॥

इस प्रकार श्रीशिवसंहिता के मुद्रावर्णन नामक चौथे पटल की पं० हरिहरप्रसाद त्रिपाठीकृत हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥४॥

◆

पञ्चम पटलः

योगसाधना कथन

श्री देव्युवाच

ब्रूहि मे वाक्यमीशान परमार्थधियं प्रति ।
ये विघ्नाःसन्ति लोकानां वद मे प्रिय शंकर ॥१॥

देवी पार्वती ने शिवजी से कहा—हे ईश्वर, हे परमप्रिय शंकर ! योगाभ्यास-काल में उपस्थित होने वाले विघ्नों को आप मुझसे कहिए, क्योंकि योगसाधना के समय साधक के समक्ष अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाएँ आकर खड़ी हो जाती हैं। अतः आप अपने भक्तों के कल्याणार्थ उन विघ्नों के निवारण का उपाय कहिए ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नः स्थिताः सदा ।
मुक्तिं नराणां च भोगः परमबन्धनः ॥२॥

शिवजी बोले—हे देवि ! योगसाधना काल में साधक के सम्मुख जो-जो बाधाएँ आती हैं,उन्हें तुम एकाग्रतापूर्वक श्रवण करो। मनुष्यों के मोक्षमार्ग में भोग ही सबसे बड़ा बाधक होता है। इसके बन्धन में आबद्ध हो जाने के परिणामस्वरूप वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में असफल सिद्ध हो जाता है ॥२॥

नारी शय्यासनं वस्त्रं धनमस्य विडम्बनम् ।
ताम्बूलभक्षयानानि राज्यैश्वर्यविभूतयः ॥३॥
हैमं रौप्यं तथा ताम्रं रत्नं चागुरुधेनवः ।
पाण्डित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतं विभूषणम् ॥४॥
वंशी वीणा मृदङ्गाश्च गजेन्द्रश्चाश्ववाहनम् ।
भोगरूपा इमे विघ्ना धर्मरूपानिमान् शृणु ॥५॥

स्त्री-प्रसंग, सुखद शैय्या पर शयन, उत्तम आसन, वस्त्र तथा धनादि वस्तुएँ मोक्षसाधन में बाधा-स्वरूप हैं। ताम्बूल-भक्षण, राज्यैश्वर्य-सम्बन्धी वाहनों का प्रयोग, सोना, चाँदी, ताँबा तथा अगरु आदि सुगन्धित पदार्थों का सेवन और गोधन आदि

का संग्रहण भी मोक्ष हेतु बाधक हैं। वक्तृता, वेद-वाक्यों पर तर्क-वितर्क, नर्तन, गायन, दैहिक साज-सज्जा, बाँसुरी, वीणा (तारयुक्त एक वाद्यविशेष), मृदंग आदि वाद्य-श्रवण, हाथी-घोड़े आदि वाहनों पर आरोहण—ये सभी भोगरूपी बाधाएँ कही गयी हैं। अब इसके अनन्तर मैं धर्मरूप विघ्नों का कथन करता हूँ जिसे तुम श्रवण करो ॥३-५॥

धर्मरूप विघ्नवर्णन

स्नानं पूजाविधिर्होमं तथा मोक्षमयी स्थितिः ।
व्रतोपवासनियमा मौनमिन्द्रियनिग्रहः ॥६॥
ध्येयो ध्यानं तथा मन्त्रो दानं ख्यातिर्दिशासु च ।
वापीकूपतडागादिप्रासादारामकल्पना ॥७॥
यज्ञं चान्द्रायणं कृच्छ्रं तीर्थानि विविधानि च ।
दृश्यन्ते च इमे विघ्ना धर्मरूपेणसंस्थिताः ॥८॥

स्नान, पूजन, हवन, मोक्षमयी अर्थात् द्वन्द्वातीत स्थिति में रहना, व्रत, उपवास, नियमादि का पालन, मौनव्रत धारण, इन्द्रिय-निग्रहण, अपने ध्येय का ध्यान, मन्त्रोच्चारण में संलग्नता, दानादि कर्म करना, चारों ओर अपनी कीर्ति-पताका फहराना, बावली, कूप, तालाब तथा भवन निर्माण की कल्पना, यज्ञीय कर्मों का सम्पादन, पापक्षयार्थ कृच्छ्र चांद्रायण व्रत करना तथा अनेक तीर्थस्थानों में भ्रमणशील रहना—ये सभी कार्य धर्मरूप विघ्न की श्रेणी में आते हैं ॥६-८॥

ज्ञानरूपविघ्ननिरूपण

यत्तु विघ्नं भवेज्ज्ञानं कथयामि वरानने ।
गोमुखं स्वासनं कृत्वा धौतिप्रक्षालनं च तत् ॥९॥
नाडीसञ्चारविज्ञानं प्रत्याहारनिरोधनम् ।
कुक्षिसञ्चालनं क्षिप्रं प्रवेश इन्द्रियाध्वना ।
नाडीकर्माणि कल्याणि भोजनं श्रूयतां मम ॥१०॥

शिवजी देवी पार्वती के प्रति उन्मुख होकर कहते हैं कि वरानने, हे सुमुखि ! अब मैं ज्ञानरूप विघ्न का निरूपण कर रहा हूँ। अन्तरात्मा की शुद्धि हेतु वस्त्र को गोमुख के समान रखते हुए धौति (षट्कर्मों के अन्तर्गत धौति, नेति आदि क्रियाओं में से एक) का प्रक्षालन करना, नाड़ीचालन-क्रिया की ज्ञानोपलब्धि, वायु के प्रत्याहार का निरोध, कुंडलिनी शक्ति के उद्बोधनार्थ उदर का संचालन, इन्द्रिय द्वारा सद्यःप्रवेश, नाड़ी परिशोधनार्थ आहार के प्रति आचार-विचार का अनुपालन—ये सभी ज्ञानरूप विघ्न कहे जाते हैं। इसके आगे अब मैं नाड़ी परिशोधनार्थ उस आहार-विधि का वर्णन करता हूँ जिसे तुम सुनो ॥९-१०॥

नवधातुरसं छिन्धि शुण्ठिकाश्ताडयेत् पुनः ।
एककालं समाधिः स्याल्लिंगभूतमिदं शृणु ।।११।।
संगमं गच्छ साधूनां संकोचं भज दुर्जनात् ।
प्रवेशनिर्गमे वायोर्गुरुलक्षं विलोकयेत् ।।१२।।
पिण्डस्थं रूपसंस्थञ्च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
ब्रह्मैतस्मिन्मतावस्था हृदयं च प्रशाम्यति ।
इत्येते कथिता विघ्ना ज्ञानरूपे व्यवस्थिताः ।।१३।।

योगाभ्यासी को नवीन रसपूरित पदार्थ शुंठी (सोंठ) चूर्ण के साथ आहार में ग्रहण करने चाहिए । भोजनोपरान्त सोंठ चूर्ण का सेवन करने के फलस्वरूप शीघ्र ही समाधि लग जाती है । अब मैं उसका लक्षण बतला रहा हूँ जिसे तुम ध्यान से सुनो इसके लिए सत्संगति, दुर्जनों से दूरीकरण, निर्गम में प्रवेश तथा कुम्भक प्राणायाम के समय गुरु और लघु संख्या का विचार करना आवश्यक होता है । शरीरस्थ आत्मस्वरूप का विचार करते हुए इस बात का निश्चय करना कि रूपवान और कुरुपवान क्या है? यह सम्पूर्ण जगत ही ब्रह्ममय है—ऐसा विचार हृदयगम करना चाहिए । हे पार्वति ! ये सभी लक्षण ज्ञानरूप विघ्न में पाये जाते हैं ॥११-१३॥

चतुर्विधयोग

मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः ।
चतुर्थोराजयोगः स्यात्स द्विधाभाववर्जितः ।।१४।।
चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदुमध्याधिमात्रकः ।
अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवाब्धौ लंघनक्षमः ।।१५।।

योग के चार भेद कहे गये हैं, जैसे— (१) मंत्रयोग, (२) हठयोग, (३) लययोग और (४) राजयोग । इन चारों में चौथा राजयोग द्वैधीभाव से रहित होता है । आशय यह है कि राजयोग के साधक में द्वैतभाव नहीं रह जाता जिसके परिणामस्वरूप वह ईश्वर के साथ एकीकृत हो जाता है । उक्त चार प्रकार के योग सिद्धयर्थ चार प्रकार के साधक भी होते हैं, जैसे— (१) मृदुसाधक, (२) मध्यम साधक, (३) अधिमात्र साधक तथा (४) अधिमात्रतम साधक । इन चतुर्विध साधकों में अधिमात्रतम साधक सर्वोत्तम माना जाता है, क्योंकि वह संसार-सागर पार करने में शीघ्र ही समर्थ बन जाता है ॥१४-१५॥

मृदुसाधक लक्षण

मन्दोत्साही सुसंमूढो व्याधिस्थो गुरुदूषकः ।
लोभी पापमतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रयः ।।१६।।
चपलःकातरो रोगी पराधीनोऽतिनिष्ठुरः ।
मन्दाचारो मन्दवीर्यो ज्ञातव्यो मृदुमानवः ।।१७।।

द्वादशाब्दे भवेत्सिद्धिरेतस्य यत्नतः परम् ।
मन्त्रयोगाधिकारी स ज्ञातव्योगुरुणा ध्रुवम् ।।१८।।

मृदुसाधक मन्दोत्साही, मूढ़बुद्धि, रोगग्रस्त, गुरुनिन्दक, लालची, पाप-परायण, चंचल चित्त, कायर, रुग्ण, अन्याश्रित, अत्यन्त निर्दय, मन्दाचारी तथा मन्द वीर्य (शक्ति) होता है। ऐसे पुरुष मृदुमानव कहलाते हैं। इस प्रकार का साधक मन्त्र योग करने का अधिकारी होता है। गुरु के अनुग्रह वश प्रयत्न पूर्वक साधना करने वाले ऐसे पुरुष की साधना बारह वर्षों में फलीभूत हुआ करती है ॥१६-१८॥

मध्यम साधक लक्षण

समबुद्धि क्षमायुक्तः पुण्यकांक्षी प्रियंवदः ।
मध्यस्थः सर्वकार्येषु सामान्यः स्यान्न संशयः ।
एतज्ज्ञात्वैव गुरुभिर्दीयते मुक्तितो लयः ।।१९।।

जो साधक सामान्य बुद्धि, क्षमाशील, पुण्यकर्म करने का अभिलाषी, मृदुभाषी तथा समस्त विषयों या कार्यों में तटस्थ रहने वाला हो उसे मध्यम साधक कहा जाता है। इस प्रकार के लक्षणान्वित अभ्यासरत साधक को देखकर गुरु उसे लययोग की शिक्षा प्रदान करे, क्योंकि लययोग की साधना ही मुक्तिद्वार का एकमात्र साधन होता है ॥१९॥

अधिमात्रसाधक लक्षण

स्थिरबुद्धिर्लये युक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि ।
महाशयो दयायुक्तः क्षमावान् सत्यवानपि ।।२०।।
शूरो वयस्थः श्रद्धावान् गुरुपादाब्ज पूजकः ।
योगाभ्यासरतश्चैव ज्ञातव्यश्चाधिमात्रकः ।।२१।।
एतस्य सिद्धिः षड्वर्षैर्भवेदभ्यासयोगतः ।
एतस्मै दीयते धीरो हठयोगश्च साङ्गतः ।।२२।।

ऐसा साधक जो स्थितप्रज्ञ, लययोग में तत्पर, स्वाधीन, पराक्रमशाली, उदारमना, दयालु, क्षमाशील, सत्यभाषी, शूर-वीर, समाधि के प्रति श्रद्धावान, गुरुचरणानुरागी तथा योगाभ्यास-रत हो उसे ही अधिमात्रसाधक समझना चाहिए। ऐसे साधक निरन्तर छह वर्षों के अभ्यास द्वारा सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे धैर्यवान् साधक को गुरु हठयोग की सांगोपांग विधि से उपदेशित करे ॥२०-२२॥

अधिमात्रतमसाधक लक्षण

महावीर्यान्वितोत्साही मनोज्ञः शौर्यवानपि ।
शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च निर्मोहश्च निराकुलः ।।२३।।
नवयौवनसम्पन्नो मिताहारी जितेन्द्रियः ।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्वजनाश्रयः ।।२४।।
अधिकारी स्थिरो धीमान् यथेच्छावस्थितः क्षमी ।

सुशीलो धर्मचारी च गुप्तचेष्टः प्रियंवदः ।।२५।।

अधिमात्रतम साधक के लक्षण इस प्रकार से हैं, जैसे—महान पराक्रमी, उत्साही, शूर-वीर, शास्त्रज्ञ, अभ्यास-परायण, मोहविहीन, आकुलता से रहित अर्थात् सावधान- चित्त, नवयौवन-सम्पन्न, मिताहारी अर्थात् संतुलित आहारग्राही,विजितेन्द्रिय, निर्भीक, शुद्धाचारी अर्थात् पवित्र आचरण वाला, सभी कार्यों को करने में निपुण, दानशील अर्थात् निःसंकोच भाव से उदारतापूर्वक दान देने वाला, शरणागतजनों का प्रतिपालक, स्थिर बुद्धि अर्थात् दृढ़निश्चयी, बुद्धिशाली, सन्तोषी, क्षमाशीलता के गुण से समन्वित, सौम्य, धर्माचारी, धार्मिक कर्मों का गोपन करने वाला तथा सभी लोगों के प्रति प्रियभाषण करने वाला होता है ।।२३-२५।।

शास्त्रविश्वाससम्पन्नो देवतागुरुपूजकः ।
जनसङ्गविरक्तश्च महाव्याधिविवर्जितः ।।२६।।
अधिमात्रतरो ज्ञेयः सर्वयागस्य साधकः ।
त्रिभिस्संवत्सरैः सिद्धिरेतस्य नात्र संशयः ।
सर्वयोगाधिकारी स नात्र कार्या विचारणा ।।२७।।

इसके अतिरिक्त उक्त प्रकार का साधक शास्त्र-वचनों के प्रति निष्ठावान, देव तथा गुरुपूजक तथा जनसमाज से दूरी बनाये रखनेवाला होता है । उसे किसी प्रकार की महाव्याधि (कुष्ठादि रोग) भी नहीं सताती । इस प्रकार का योगाभ्यासी साधक ही अधिमात्रतम साधक कहा जाता है । ऐसे साधक को तीन वर्ष की साधना के पश्चात् सिद्धिप्राप्त होना सुनिश्चित रहता है । इस प्रकार के अभ्यासी समस्त योगसाधना हेतु उपयुक्त कहे जाते हैं ।।२६-२७।।

प्रतीकोपासना का वर्णन

प्रतीकोपासना कार्या दृष्टादृष्टफलप्रदा ।
पुनाति दर्शनादत्र नात्र कार्या विचारणा ।।२८।।
गाढातपे स्वप्रतिबिम्बितेश्वरं निरीक्ष्य विस्फारितलोचनद्वयम् ।
यदा नभः पश्यति स्वप्रतीकं नभोऽङ्गणे तत्क्षणमेव पश्यति ।।२९।।

अब यहाँ प्रतीक उपासना का उल्लेख किया जा रहा है । यह प्रतीक उपासना देखी-अनदेखी फल को देती है एवं उसके केवल दर्शनमात्र से ही आराधक निःसन्देहरूप से पवित्र हो जाता है । जो साधक कड़ी धूप में अपलक नेत्रों से अपने ईश्वर के प्रतिविम्ब को देख ले और जब उस शून्य में अपनी प्रतिच्छाया भी उसे दिखायी देने लगे तब उस प्रतिविम्ब को गगन-मण्डल में अवलोकन करने में भी वह सक्षम हो जाता है ।।२८-२९।।

प्रत्यहं पश्यते यो वै स्वप्रतीकं नभोऽङ्गणे ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य न मृत्युः स्यात्कदाचन ।।३०।।

यदा पश्यति सम्पूर्णं स्वप्रतीकं नभोऽङ्गणे ।
तदा जयं सभायां च युद्धे निर्जित्य सञ्चरेत् ।।३१।।

जो साधक स्वप्रतीकरूप अपनी प्रतिच्छाया को नभमण्डल में देखता है उसमें आयुवर्धन होता है तथा उसके निकट कभी मृत्यु कहीं जाती । यदि ऐसे अभ्यासी को अपना सम्पूर्ण प्रतिविम्ब आकाश-मण्डल में भासित होने लगे तो सभास्थल में उसे विजय-श्री मिलती है और वह युद्धभूमि में अपने शत्रुओं को पराजित करता है ॥३०-३१॥

यः करोति सदाभ्यासं चात्मानं विन्दते परम् ।
पूर्णानन्दैकपुरुषं स्वप्रतीकप्रसादतः ।।३२।।
यात्राकाले विवाहे च शुभे कर्मणि सङ्कटे ।
पापक्षये पुण्यवृद्धौ प्रतीकोपासनं चरेत् ।।३३।।

जो पुरुष सदैव ही प्रतीकोपासना के अभ्यास में निरत रहता है उसे आत्म-तत्त्व की उपलब्धि होती है । अर्थात् पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा का उसे साक्षात्कार होता है । आत्म-दर्शन के पश्चात् हृदयाकाश में परमज्योति का प्रकाश फैल जाता है । यात्राकाल में, वैवाहिक काल में, मांगलिक कार्य के समय, संकटापन्न स्थिति में अथवा पाप के क्षयार्थ और पुण्य के वर्धनार्थ प्रतीकोपासना निश्चय ही श्रेयस्कर होता है ॥३२-३३॥

निरन्तरकृताभ्यासादन्तरे पश्यति ध्रुवम् ।
तदा मुक्तिमवाप्नोति योगी नियतमानसः ।।३४।।

प्रतीकोपासना के निरन्तर अभ्यास के परिणामस्वरूप निश्चय ही अपने हृदय में स्वप्रतिविम्ब भासमान हो उठता है । ऐसी अवस्था में दृढ़ात्मा योगी मोक्ष का अधिकारी बन जाता है ॥३४॥

अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां द्विलोचने ।
नासारन्ध्रे च मध्याभ्यामनामाभ्यां मुखं दृढम् ।।३५।।
निरुध्य मारुतं योगी यदैव कुरुते भृशम् ।
तदा तत्क्षणमात्मानं ज्योतीरूपं स पश्यति ।।३६।।

साधक को अपने हाथ के दोनों अँगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनी उँगलियों से दोनों नेत्रों को तथा दोनों मध्यमाओं से दोनों नासारन्ध्रों को बन्द कर लेना चाहिए । तत्पश्चात् दोनों अनामिकाओं के द्वारा दृढ़तापूर्वक मुखावरोध कर देना चाहिए । जो साधक इस प्रकार वायु के अवरोधन का बारम्बार अभ्यास करता रहता है उसे अपने हृदयाकाश में निश्चय ही आत्मा के दर्शन होते हैं ॥३५-३६॥

तत्तेजो दृश्यते येन क्षणमात्रं निराकुलम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ।।३७।।
निरन्तरकृताभ्यासाद्योगी विगतकल्मषः ।
सर्वदेहादि विस्मृत्य तदभिन्नः स्वयं गतः ।।३८।।

ऐसा योगभ्यासी पुरुष जो क्षणभर भी इस तेजपुंज के दर्शन कर लेता है वह समस्त पापों से विमुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जो पुरुष इस प्रकार की साधना में सतत अभ्यासशील रहकर चित्त की विशुद्धता बनाये रखता है वह सभी देहादि कर्मों से पृथक् होकर आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् वह अपने को आत्मा से अलग नहीं समझता ॥३७-३८॥

यः करोति सदाभ्यासं गुप्ताचारेण मानवः।
स वै ब्रह्मविलीनः स्यात्पापकर्मरतो यदि ॥३९॥
गोपनीयः प्रयत्नेन सद्यः प्रत्ययकारकः।
निर्वाणदायको लोके योगोऽयं मम वल्लभः।
नादः संजायते तस्य क्रमेणाीयासतश्च यः ॥४०॥

यदि इसका अभ्यास गुप्तरूप से पापकर्म में लिप्त रहने वाला प्राणी भी नित्य करता रहे तो वह भी मोक्षद्वार तक पहुँच जाता है। हे प्राणवल्लभे ! यह प्रतीकोपासना अभ्यासी के लिए निर्वाण पद दिलाने वाली होती है। अतः मुझे यह साधना अत्यन्त प्रिय है। इसकी साधना करने वाले पुरुष में क्रमानुसार नाद (शब्द-ध्वनि, वाद्य-ध्वनि, मेघ-गर्जन आदि) की अनुभूति होने लग जाती है, किन्तु इसे सर्वदा गुप्त ही रखना चाहिए ॥३९-४०॥

मत्तभृङ्गवेणुवीणासदृशः प्रथमो ध्वनिः।
एवमभ्यासतः पश्चात् संसारध्वान्तनाशनम्।
घण्टानादसमः पश्चात् ध्वनिर्मेघरवोपमः ॥४१॥
ध्वनौ तस्मिन्मनो दत्त्वा यदा तिष्ठति निर्भरः।
तदा संजायते तस्य लयस्य मम वल्लभे ॥४२॥

इस प्रकार से योगाभ्यास में निरत रहने पर प्रथमावस्था में साधक को मतवाले भौंरों की गुनगुनाहट के समान शब्द सुनाई पड़ते हैं। पुनः बाँसुरी, वीणा आदि की झंकार-जैसे शब्द का बोध होने लगता है। तदनन्तर सांसारिक तिमिर को हटानेवाला घंटानाद जैसा शब्द श्रुतिगोचर होता है। इसके पश्चात् अन्त में मेघगर्जन-जैसी ध्वनि का अनुभव होने लगता है। ऐसी अवस्था आने पर मन में पूर्ण रूप से स्थिरता आ जाती है और वही मोक्ष का कारण बनता है। अतः हे देवी पार्वति ! ऐसी साधना मेरे लिए परम प्रियकारक है ॥४१-४२॥

तत्र नादे यदा चित्तं रमते योगिनो भृशम्।
विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादेन सह शाम्यति ॥४३॥
एतदभ्यासयोगेन जित्वा सम्यक् गुणान् बहून्।
सर्वारम्भपरित्यागी चिदाकाशे विलीयते ॥४४॥

जिस समय योगी का चित्त स्थिरतापूर्वक नाद के अनुश्रवण में लग जाता है तब वह सभी बाह्य विषयों को भूलकर केवल नाद में ही विलीन हो जाता है। अर्थात्

उसका चित्त किसी दूसरी ओर नहीं भटकता । इस प्रकार के अभ्यास द्वारा योगी समस्त गुणों को विजित कर तथा सभी प्रकार के कार्यारम्भ को छोड़कर हृदयाकाश में विलीन हो जाता है ॥४३-४४॥

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भसदृशं बलम् ।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥४५॥

सिद्धासन के समान अन्य कोई आसन नहीं होता । कुम्भक प्राणायाम के समान कोई दूसरा बल नहीं है, क्योंकि इसमें प्राणवायु को भीतर की ओर खींचकर उसे रोकने का अभ्यास किया जाता है जिससे बलोपलब्धि होती है । खेचरी मुद्रा के बराबर न कोई दूसरी मुद्रा होती है और न ही नाद के सदृश कोई दूसरा लयस्थान होता है ॥४५॥

षट्चक्र विवरण

मूलाधारपद्मनिरूपण

इदानीं कथयिष्यामि मुक्तस्यानुभवं प्रिये ।
यज्ज्ञात्वा लभते मुक्तिं पापयुक्तोऽपिसाधकः ॥४६॥
समभ्यर्च्येश्वरं सम्यक् कृत्वा च योगमुत्तमम् ।
गृह्णीयात्सुस्थितोभूत्वा गुरुं सन्तोष्य बुद्धिमान् ॥४७॥

शिवजी ने कहा— हे पार्वति ! अब मैं तुमसे मोक्षानुभव का कथन कर रहा हूँ जिसके ज्ञानोपलब्धि से पापिष्ठ साधक भी मुक्तिलाभ प्राप्त कर लेता है । प्रबुद्ध साधक को भली-भाँति ईश्वरार्चन करने के पश्चात् स्थिरचित्त से आसन पर बैठ गुरु की प्रसन्नता प्राप्त कर इस योग को ग्रहण करना आवश्यक है ॥४६-४७॥

जीवादि सकलं वस्तु दत्त्वा योगविदं गुरुम् ।
सन्तोष्यतिप्रयत्नेन योगोऽयं गृह्यते बुधैः ॥४८॥
विप्रान् सन्तोष्य मेधावी नानामङ्गलसंयुतः ।
ममालये शुचीर्भूत्वा गृह्णीयाच्छुभमात्मनः ॥४९॥
संन्यस्यानेन विधिना प्राक्तनं विग्रहादिकम् ।
भूत्वा दिव्यवपुर्योगी गृह्णीयाद्वक्ष्यमाणकम् ॥५०॥

प्रज्ञावान योगसाधक का यह कर्तव्य है कि वह समस्त जीवादिक पदार्थों का परित्याग कर उसे योग-मर्मज्ञ गुरु को समर्पित कर दे और गुरु को भली-भाँति परितुष्ट कर उनसे योग की दीक्षा ले । योगग्राही, मनस्वी साधक का यह कर्तव्य है कि वह सर्वप्रथम विप्रों को दान-दक्षिणा से संतुष्ट कर उनसे मांगलिक अनुष्ठान सम्पन्न कराये । तदनन्तर पवित्रतापूर्वक शिवमन्दिर में बैठकर आत्म-विषयक योग को ग्रहण करे । इस विधि से साधक गुरु के अनुग्रह को प्राप्त कर अपने पूर्व शरीर को त्याग दिव्यशरीर में आकर योगोपदेश ग्रहण करे । अर्थात् योगग्रहणकाल में साधक का शरीर दिव्यकाय बन जाता है । उसकी समस्त व्याधियाँ तथा अज्ञानता दूर हो जाती

है । अभिप्राय यह है कि योग ग्रहण के समय साधक को इस बात की चिन्तना करनी चाहिए कि अब मैं पूर्व शरीर को छोड़कर दिव्यशरीर में प्रविष्ट हो गया हूँ ॥४८-५०॥

पद्मासनस्थितो योगी जनसङ्गविवर्जितः ।
विज्ञाननाडीद्वितयमङ्गुलीभ्यां निरोधयेत् ।।५१।।
सिद्धेस्तदाविर्भवति सुखरूपी निरञ्जनः ।
तस्मिन् परिश्रमः कार्यो येन सिद्धोभवेत्खलु ।।५२।।

योगी को जनसमूह के सम्पर्क से रहित होकर किसी सुनसान स्थान में पद्मासन लगाकर बैठ जाना चाहिए । तत्पश्चात् उसे दोनों विज्ञान नाड़ियों अर्थात् इड़ा और पिंगला नाड़ियों का हाथ की अंगुलियों से प्राणवायु का अवरोधन करना चाहिए । इस प्रक्रिया के द्वारा योगसिद्धाभिलाषी साधक के हृदयस्थल में सुखरूप निरंजन चैतन्य आत्म-प्रकाश का आभास होने लगेगा, किन्तु परिश्रम के फलस्वरूप ही योग की सिद्धि मिल सकती है ॥५१-५२॥

यः करोति सदाभ्यासं तस्य सिद्धिर्न दूरतः ।
वायुसिद्धिभवेतस्य क्रमादेव न संशयः ।।५३।।
सकृद्यः कुरुते योगी पापौघं नाशयेद् ध्रुवम् ।
तस्य स्यान्मध्यमे वायोः प्रवेशो नात्रसंशयः ।।५४।।

जो साधक इस विधि का अभ्यास प्रतिदिन नियमित रूप से करता रहता है उसे सभी प्रकार की सिद्धियाँ हस्तगत हो जाती हैं और उसे क्रमशः वायु की सिद्धि भी अपने-आप हो जाया करती हैं । जो योगसाधक इसे नित्य एक बार भी करता है उसके समस्त पातक क्षीण हो जाते हैं । तदनन्तर उसके प्राणवायु का प्रवेश सुषुम्ना नाड़ी में हो जाता है ॥५३-५४॥

एतदभ्यासशीलो यः स योगी देवपूजितः ।
अणिमादिगुणान् लब्ध्वा विचरेद्भुवनत्रये ।।५५।।
यो यथास्यानिलाभ्यासात्तद्भवेत्तस्य विग्रहः ।
तिष्ठेदात्मनि मेधावी संयुतः क्रीडते भृशम् ।।५६।।

इस प्रकार का अभ्यासी साधक देवताओं द्वारा सेवित हुआ करता है । ऐसा साधक अष्ट सिद्धियों को प्राप्त कर त्रिलोक में भ्रमण करने की भी शक्ति पा लेता है । जो साधक जिस किसी रीति से प्राणवायु को नियंत्रित करने का अभ्यास करता है उसे समस्त शारीरिक सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाती हैं तथा वह बुद्धिमान साधक आत्मस्थ होकर सर्वदा ही क्रीड़ाशील रहा करता है ॥५५-५६॥

एतद्योगं परं गोप्यं न देयं यस्य कस्यचित् ।
सप्रमाणः समायुक्तस्तमेव कथ्यते ध्रुवम् ।।५७।।

इस प्रकार से यह योगसाधना अत्यन्त गोपनीय कही गयी है । इसे किसी

अयोग्य या अनधिकारी व्यक्ति से नहीं कहना चाहिए । किन्तु जो शिष्य इस योगविद्या ग्रहण करने का उपयुक्त पात्र हो उसे इस विद्या को देने में गुरु को संकोच भी नहीं करना चाहिए ।।५७।।

योगी पद्मासने तिष्ठेत् कण्ठकूपे यदा स्मरन् ।
जिह्वां कृत्वा तालुमूले क्षुत्पिपासा निवर्तते ।।५८।।
कण्ठकूपादधःस्थाने कूर्मनाड्यस्ति शोभना ।
तस्मिन् योगी मनोदत्त्वा चितस्थैर्यंलभेद् भृशम् ।।५९।।

जो पद्मासनस्थ योगी अपने मन को कंठकूप (कंठविवर) के स्मरण में लगाकर जिह्वा को तालुमूल में सटा देता है वह क्षुधा-पिपासा से रहित हो जाता है, क्योंकि कंठविवर के निचले भाग में कूर्मनाड़ी की अवस्थिति रहती है । जो योगी अपने चित्त को उस कूर्मनाड़ी में समायोजित कर लेता है, उसके चित्त की चपलता मिट जाती है ।।५८-५९।।

शिरः कपाले रुद्राक्ष विवरं चिन्तयेद्यदा ।
तदा ज्योतिः प्रकाशः स्याद्विद्युत्पुञ्जसमप्रभः ।।६०।।
एतच्चिन्तनमात्रेण पापानां संक्षयो भवेत् ।
दुराचारोऽपि पुरुषो लभते परमं पदम् ।।६१।।

मानव के शिर और कपाल (खोपड़ी) में रुद्राक्ष-विवर की विद्यमानता रहती है । उस स्थान के चिन्तन से योगी में विद्युत्पुंज के समान आत्मज्योति का प्रकाश उद्भासित होता है । उस आत्मज्योति की चिन्तना करने से योगी सभी पापों से विमुक्त हो जाता है । यदि ऐसा योगी विषयासक्त भी रहा हो तो भी वह मोक्षप्राप्ति का अधिकारी बन जाता है और उसे सद्गति मिलती है ।।६०-६१।।

अहर्निशं यदा चिन्तां तत्करोति विचक्षणः ।
सिद्धानां दर्शनं तस्य भाषणं च भवेद् ध्रुवम् ।।६२।।
तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेच्छून्यमहर्निशम् ।
तदाकाशमयो योगी चिदाकाशे विलीयते ।।६३।।

इस प्रकार से जो साधक दिन-रात आत्मतत्त्वबोध के चिंतन में निरत रहा करते हैं उन्हें सिद्धजनों के दर्शन और उनसे सम्भाषण करने का सुअवसर अवश्य ही प्राप्त होता है । इस रीति से जो साधक उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते तथा भोजनादि सभी कालों में सतत आत्म-चिन्तना में लगे रहते हैं, वे आकाशस्वरूप होकर परमात्मा में विलीन हो जाते हैं ।।६२-६३।।

एतज्ज्ञानं सदा काय योगिना सिद्धिमिच्छता ।
निरन्तरकृताभ्यासान्मम तुल्यो भवेद् ध्रुवम् ।
एतज्ज्ञानबलाद्योगी सर्वेषां वल्लभो भवेत् ।।६४।।

इस ध्यान का निरन्तर अभ्यास करना सिद्धाभिलाषी पुरुषों के लिए आवश्यक होता है। हे पार्वति ! इसका ध्यान सदैव करने वाला योगी मेरे समतुल्य हो जाता है । इस ज्ञान की प्रभावशालिता के कारण निश्चय ही वह साधक त्रैलोक्य का प्रियभाजन बन जाता है । अर्थात् उसका कोई भी प्राणी विद्रोही नहीं रह जाता ।।६४।।

सर्वान् भूतान् जयं कृत्वा निराशीरपरिग्रहः ।
नासाग्रे दृश्यते येन पद्मासनगतेन वै ।
मनसो मरणं तस्य खेचरत्वं प्रसिद्ध्यति ।।६५।।
ज्योतिः पश्यति योगीन्द्रः शुद्धं शुद्धाचलोपमम् ।
तत्राभ्यासबलेनैव स्वयं तद्रक्षको भवेत् ।।६६।।

यदि ऐसा योगी पद्मासन लगाकर नासिका की नोक पर अपनी दृष्टि जमा ले तो वह समस्त प्राणियों को विजित कर क्षुधा-तृषा से रहित हो जाता है । ऐसी अवस्था में चित्त की स्थिरता के परिणामस्वरूप उसमें खेचरता अर्थात् आकाश-गमन की क्षमता प्राप्त हो जाती है । ऐसा योगीन्द्र विशुद्ध मन से उस शुद्धाचल के समान परमज्योतिपुंज के दर्शन पा लेता है । ऐसी दशा में योगसाधना के फलस्वरूप वह स्वयं ही उसका रक्षक बन जाता है । अर्थात् वह ज्योतिदर्शन के अभ्यास का सदैव ही अभिरक्षण किया करता है ।।६५-६६।।

उत्तानशयने भूमौ सुप्त्वा ध्यायन्निरन्तरम् ।
सद्यः श्रमविनाशाय स्वयं योगी विचक्षणः ।।६७।।
शिरः पश्चात्तु भागस्य ध्याने मृत्युञ्जयो भवेत् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिमात्रेण ह्यपरः परिकीर्तितः ।।६८।।

यदि बुद्धिमान साधक भूतल पर पीठ के बल सीधा लेटकर लगातार ध्यान में निमग्न रहता है तो उसकी थकावट शीघ्र ही मिट जाती है अर्थात् वह स्फूर्ति का अनुभव करने लगता है । जो योगसाधक शिर के पिछले भाग का ध्यान करता है वह कालजयी बन जाता है । इस प्रकार के सभी फल भ्रूमध्य में दृष्टि जमाने के फलस्वरूप होते हैं, इस बात को हम पहले ही बतला चुके हैं ।।६७-६८।।

चतुर्विधस्य चान्नस्य रसस्त्रेधा विभज्यते ।
तत्र सारतमो लिंगदेहस्य परिपोषकः ।।६९।।
सप्तधातुमयं पिण्डमेति पुष्णाति मध्यगः ।
याति विण्मूत्ररूपेण तृतीयः सप्तमो बहिः ।।७०।।

चतुर्विध अन्नाहार से तीन प्रकार के रसों की उत्पत्ति होती है । उनमें से पहला जो सारतत्त्व रूप रस है, उसके द्वारा लिंगशरीर की पुष्टि होती है । दूसरे रस से सप्तधातुओं से संयुक्त पिण्ड का परिपोषण हुआ करता है तथा तीसरा रस सप्तधातुओं (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र) से पृथक् मल-मूत्रादि के रूप में होता है ।।६९-७०।।

आद्यभागं द्वयं नाड्यः प्रोक्तास्ताः सकला अपि ।
पोषयन्ति वपुर्वायुमापादतलमस्तकम् ।।७१।।
नाडीभिराभिः सर्वाभिर्वायुः सञ्चरते यदा ।
तदैवान्नरसो देहे साम्येनेह प्रवर्तते ।।७२।।

पूर्वकथित दो प्रकार के रस ही सम्पूर्ण नाड़ीरूप होते हैं। वे ही पैर से लेकर शिरोभाग तक शरीरस्थ वायु के पुष्टिकरण में निरत रहा करते हैं। जब समस्त नाड़ियों में रस का संचरण होता है,तब उसके परिणामस्वरूप पूरे शरीर में अन्न द्वारा परिवर्तित रस प्रवृत्त हो उठता है। अर्थात् अन्न-रस के द्वारा ही शरीर का पुष्टिकरण सम्भव होता है ।।७१-७२।।

चतुर्दशानां तत्रेह व्यापारे मुख्यभागतः ।
ता अनुग्रहत्वहीनाश्च प्राणसञ्चारनाडिकाः ।।७३।।

समस्त नाड़ियों में जो प्रमुख रूप से चौदह नाड़ियाँ कही गयी हैं वे ही सम्पूर्ण देह-व्यापार को चलाती हैं। इन प्राण-संचारिणी नाड़ियों में सभी एक-दूसरे के समान होती हैं। अर्थात् कोई भी किसी से कम नहीं मानी जाती ।।७३।।

गुदाद्व्यङ्गुलतश्चोर्ध्वं मेढ्रैकाङ्गुलतस्त्वधः ।
एवं चास्ति समं कन्दं समता चतुरङ्गुलम् ।।७४।।
पश्चिमाभिमुखी योनिगुदमेढ्रान्तरालगा ।
तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ति कुण्डली सदा ।।७५।।
संवेष्ट्य सकला नाडी सार्द्धत्रिकुटिलाकृतिः ।
मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णाविवरे स्थिता ।।७६।।

गुदाद्वार से दो अंगुल ऊपर की ओर तथा शिश्नमूल से एक अंगुल नीचे की ओर एक कंद चार अंगुल विस्तारवाला स्थित रहता है। गुदा और जननेन्द्रिय के बीच में अवस्थित योनि पीछे की ओर मुख वाली होती है। उसी स्थान में वह कन्द वर्तमान रहता है और वही कुंडलिनी शक्ति का आवासीय स्थान भी होता है। यह कुंडलिनी शक्ति सभी नाड़ियों को आच्छादित करके कुटिलाकार रूप में साढ़े तीन फेरे लगाकर तथा पूँछ को मुखस्थ करके सुषुम्ना नाड़ी के विवर में पड़ी रहती है ।।७४-७६।।

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया ।
अहिवत् सन्धिसंस्थानां वाग्देवी बीजसंज्ञिका ।।७७।।
ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्मला स्वर्णभास्वरा ।
सत्त्वं रजतमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका ।।७८।।

यह सर्पाकर, कुंडलिनी शक्ति निद्रितावस्था में पड़ी रहती है। यह स्वयंप्रभा कहलाती है। अर्थात् अपने प्रकाश से ही प्रकाशमान रहकर सर्प के समान विवर में स्थित रहा करती है। यह वाग्देवी बीजसंज्ञक होती है। इसके द्वारा ही वाणी की सिद्धि

मिलती है। यही विश्व की बीजस्वरूपा भी है। यह कुंडलिनी ही जगदाधार विष्णु की परम शक्ति तथा तप्त कांचन के समान निर्मल तेजयुक्ता होती है। यह सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों की उत्पन्नकर्त्री होती है ॥७७-७८॥

तत्र बन्धूकपुष्पाभं कामबीजं प्रकीर्तितम् ।
कलहेमसमं योगे प्रयुक्ताक्षररूपिणम् ॥७९॥
सुषुम्णापि च संश्लिष्टो बीजं तत्र वरं स्थितम् ।
शरच्चन्द्रनिभं तेजस्स्वयमेतत्स्फुरत्स्थितम् ॥८०॥

जिस स्थान में कुंडलिनी शक्ति अवस्थित होती है, उसी स्थान में बन्धूक पुष्प (गुलदुपहरिया) के सदृश रक्तवर्णीय आभायुक्त कामबीज की भी स्थिति होती है। वह आग में तपाये हुए स्वर्ण के समान चमकीला और प्रयुक्त अक्षर स्वरूप होता है। कुंडलिनी शक्ति के आवासस्थल में ही कामबीज के सहित सुषुम्ना नाड़ी भी स्थित रहती है। वह कामबीज शरद् पूर्णिमा के चाँद के समान तेजोमय, करोड़ों सूर्य के समान प्रकाशवान तथा करोड़ों चन्द्रमा के समान सुशीतल रहता है ॥७९-८०॥

सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।
एतत्त्रयं मिलित्वैव देवी त्रिपुरभैरवी ।
बीजसंज्ञं परं तेजस्तदेव परिकीर्तितम् ॥८१॥
क्रियाविज्ञानशक्तिभ्यां युतं यत्परितो भ्रमत् ।
उत्तिष्ठद्विशतस्त्वम्भः सूक्ष्मं शोणशिखायुतम् ।
योनिस्थं तत्परं तेजः स्वयम्भूलिंगसंज्ञितम् ॥८२॥

कुंडलिनी, कामबीज और सुषुम्ना—इन तीनों का पारस्परिक मिलन होना ही देवी त्रिपुरभैरवी नामसंज्ञक कहलाता है। वह बीजसंज्ञक देवी परम तेजशीला कही जाती है। वही बीज कभी क्रियाशक्ति और कभी ज्ञानशक्ति से समायोजित होकर देह में भ्रमणशील रहा करता है। वह कभी तो ऊर्ध्वगामी होता, कभी जल में प्रविष्ट होता तथा कभी सूक्ष्म रूप में परिवर्तित हो जाता है। वह प्रज्वलित अग्निशिखा के समान अत्यन्त तेजोमय बिन्दुरूप से योनिस्थान में स्वयंभू लिंग की संज्ञा से समन्वित रहता है ॥८१-८२॥

आधारपद्ममेतद्धि योनिर्यस्यास्ति कन्दतः ।
परिस्फुरत् वादिसान्तचतुर्वर्णं चतुर्दलम् ॥८३॥
कुलाभिधं सुवर्णाभं स्वयम्भूलिङ्गसंगतम् ।
द्विरण्डो यत्रसिद्धोऽस्ति डाकिनी यत्रदेवता ॥८४॥

उक्त कथित प्रकार आधार पद्मसंज्ञक कहा जाता है। पद्म के मूलभाग में योनि की अवस्थिति होती है। यह परम दीप्तिमान पद्म अपने चार दलों (पंखुड़ियों) से विभूषित रहता है। उन पंखुडियों पर क्रमशः 'व' से 'स' तक अर्थात् व श ष स —ये चार वर्ण

होते है। इस पद्म को मूलाधार चक्र के नाम से जाना जाता है। वह पद्म कुलाभिध अर्थात् कुलसंज्ञक होता है। 'कुल' शब्द का एक अर्थ स्थान भी होता है। अतः इसका अर्थ कुंडलिनी के स्थान से भी लिया जाता है। उसकी दीप्ति स्वर्ण सदृश होती है। वह स्वयंभू लिंग में समाहित है। उसमें द्विरण्डसंज्ञक सिद्धों का आवास माना जाता है तथा डाकिनी को उसका अधिष्ठात् देवता बतलाया गया है ॥८३-८४॥

तत्पद्ममध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनी स्थिता ।
तस्य ऊर्ध्वे स्फुरत्तेजः कामबीजं भ्रमन्मतम् ॥८५॥
यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः ।
तस्य स्याद्दार्दुरी सिद्धिर्भूमित्यागक्रमेण वै ॥८६॥

उस पद्म के मध्यवर्ती भाग के योनिस्थान में कुंडलिनीशक्ति की अवस्थिति रहती है जिसके ऊर्ध्वभाग में परम तेजवान कामबीज विचरणशील रहा करता है। इस मूलाधार कमल के ध्यान में निरत रहने वाले प्रबुद्ध साधक में दादुरी वृत्ति की सिद्धि आ जाती है। अर्थात् जिस प्रकार मेढ़क भूमि से कुछ ऊपर की ओर उछलकर पुनः पृथिवी पर आ जाता है। उसी प्रकार इस साधना की प्रारम्भिक अवस्था में साधक भूमि से थोड़ा ऊपर उठकर फिर भूमि पर आ जाया करता है। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते रहने पर अन्ततोगत्वा वह आकाश-गमन की शक्ति भी प्राप्त कर लेता है ॥८५-८६॥

वपुषः कान्तिरुत्कृष्टा जठराग्निविवर्धनम् ।
आरोग्यं च पटुत्वं च सर्वज्ञत्वं च जायते ॥८७॥
भूतं भव्यं भविष्यच्च वेत्ति सर्वं सकारणम् ।
अश्रुतान्यपि शास्त्राणि सरहस्यं वदेद् ध्रुवम् ॥८८॥

इस मूलाधार चक्र की ध्यानपरायणता से शारीरिक सौन्दर्य में निखार आ जाता है तथा क्षुधाग्नि भी प्रज्वलित हो उठती है। इसके द्वारा रोगोत्पत्ति की सम्भावना नहीं रह जाती और साधक में कार्यक्षमता तथा सर्वज्ञता की उत्पत्ति होती है। उसमें समस्त पदार्थों का ज्ञान स्वयं ही आ जाता तथा वह त्रिकालदर्शी बन जाता है। जिन शास्त्रों के श्रवण करने का उसे कभी सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ होता उन्हें भी वह सांगोपांग रूप से जान लेता है ॥८७-८८॥

वक्त्रे सरस्वती देवी सदा नृत्यति निर्भरम् ।
मन्त्रसिद्धिर्भवेत्तस्य जपादेव न संशयः ॥८९॥
जरामरणदुःखौघान्नाशयति गुरोर्वचः ।
इदं ध्यानं सदा कार्यं पवनाभ्यासिना परम् ।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मुच्यते सर्वकिल्बिषात् ॥९०॥

ऐसे साधक के मुख-गह्वर में सदैव ही वाणी की अधिष्ठातृ देवी सरस्वती का वास रहा करता है अर्थात् उसे वाणी की सिद्धि उपलब्ध रहती है। उसे केवल मंत्रजाप

से ही सिद्धि मिल जाया करती है। गुरु-वाक्य के द्वारा वृद्धता, मरणशीलता, क्लेशता तथा समस्त रोगों का शमन होता है। प्राणवायु के धारक अभ्यासी साधक को इस परमोच्च ध्यान में सदा ही सन्नद्ध रहना आवश्यक होता है। इसके ध्यानमात्र से ही श्रेष्ठ योगियों के सभी पातकों का क्षय हो जाता है ॥८९-९०॥

मूलपद्मं यदा ध्यायेत् योगी स्वयम्भुलिङ्गकम् ।
तदातत्क्षणमात्रेण पापौघं नाशयेद् ध्रुवम् ॥९१॥
यं यं कामयते चित्ते तं तं फलमवाप्नुयात् ।
निरन्तरकृताभ्यासात्तं पश्यति विमुक्तिदम् ॥९२॥

उक्त मूलाधार कमलवत् स्वयंभू लिंग का ध्यान जिस क्षण योगी करता है, उसी क्षण वह समस्त पापों से विमुक्त हो जाता है। जो साधक इस मूलाधार पद्म का ध्यान धारण करते हुए जिन-जिन पदार्थों की अभिलाषा करता है उसे उन सभी इच्छित पदार्थों की उपलब्धि होती है। इसके अभ्यास में सर्वदा तत्पर रहने वाले योगी निश्चय ही मोक्ष- प्रदायक आत्म-दर्शन करने में सफल होते हैं ॥९१-९२॥

बहिरभ्यन्तरे श्रेष्ठं पूजनीय प्रयत्नतः ।
ततः श्रेष्ठतमं ह्येतन्नान्यदस्ति मतं मम ॥९३॥
आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं य समर्चयेत् ।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया ॥९४॥

हे पार्वति ! वह आत्मा निश्चय ही बाह्याभ्यन्तर रूप से प्रयत्नपूर्वक पूजनीय होता है, ऐसा मेरा अभिमत है। इससे बढ़कर अन्य कोई भी योग नहीं है। स्वदेहस्थ शिव-स्वरूप आत्मा का परित्याग कर बाह्य देवताओं का पूजन-अर्चन करना उसी प्रकार समझना चाहिए जिस प्रकार करस्थ पिण्ड को त्याग कर अन्य पिण्ड-प्राप्ति हेतु भ्रमण- शील रहना ॥९३-९४॥

आत्मलिंगार्चनं कुर्यादनालस्यं दिने दिने ।
तस्य स्यात्सकला सिद्धिर्नात्रकार्याविचारणा ॥९५॥
निरतरकृताभ्यासात्षणमासे सिद्धिमाप्नुयात् ।
तस्य वायुप्रवेशोऽपि सुषुम्णायां भवेद् ध्रुवम् ॥९६॥
मनोजयं च लभते वायुबिन्दुविधारणाम् ।
ऐहिकामुष्मिकी सिद्धिर्भवन्नैवात्र संशयः ॥९७॥

जो साधक नित्यप्रति आलस्यरहित होकर शरीरस्थ आत्मा की पूजा-अर्चना करता है उसे समस्त सिद्धियाँ अनायास ही मिल जाया करती हैं। इस विषय में सोच-विचार की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। निरन्तर छह मास तक इसके अभ्यास के फलस्वरूप साधक में ऐसी सिद्धि आ जाती है कि उसका प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप वह पुरुष अपने चित्त को अधिकृत करके

वायु और बिन्दु (वीर्य) धारण में भी सक्षम बन जाता है ।

इसके अतिरिक्त उसे लौकिक सिद्धियाँ भी निःसंदेह रूप से उपलब्ध हो जाता हैं। आशय यह है कि आत्म-पूजक प्राणी अपने लौकिक एवं पारलौकिक—इन दोनों लोकों को सुधार लेता है । वह जब तक इस लोक में रहता है तब तक समस्त सुखों को भोगकर अन्य में निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार वह योगी 'एक तीर से दो निशाना' की कहावत भी चरितार्थ करता है ।।९५-९७।।

स्वाधिष्ठानचक्र वर्णन

द्वितीयन्तु सरोजं चलिङ्गमूले व्यवस्थितम् ।
बादि लान्तं च षड्वर्ण परिभास्वरषड्दलम् ।।९८।।
स्वाधिष्ठानाभिधं तत्तु पंकजं शोणरूपकम् ।
बाणाख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति देवो यत्रास्ति राकिणी।।९९।।

दूसरा छह पंशुड़ियों वाला कमल शिश्नमूल में स्थित रहता है । इसकी प्रत्येक पंखुड़ियों पर क्रमशः 'ब' से 'ल' तक के वर्ण विभूषित रहते हैं । अर्थात् 'ब भ म य र ल' —इन वर्णों से संयुक्त रहता है । यह रक्तवर्णीय पद्म स्वाधिष्ठान के नाम से अभिहित होता है । इस स्थान में बाण नामक सिद्ध और राकिणी नाम्नी अधिष्ठातृ देवी विद्यमान रहती है । इस कमल के देवता ब्रह्मा कहे गये हैं ।।९८-९९।।

यो ध्यायति सदा दिव्यं स्वाधिष्ठानारविन्दकम् ।
तस्य कामाङ्गनाः सर्वा भजन्ते काममोहिताः ।।१००।।
विविधं चाश्रुतं शास्त्रं निःशंको वै वदेद् ध्रुवम् ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भयः ।।१०१।।

जो पुरुष इस स्वाधिष्ठानसंज्ञक कमल का सदैव ध्यान किया करते हैं उनके रूप- लावण्य पर कामरूपिणी मुग्धा नारियाँ सदा ही उनकी अनुगामिनी बनी रहती हैं । ऐसा साधक अश्रुत शास्त्रों की सर्वांगीण व्याख्या करने में भी सक्षम हो जाता है । वह दुःसाध्य रोगों से विमुक्त होकर स्वास्थ्य-लाभ करता तथा निर्भय भाव से संसार में भ्रमण करता है ।।१००-१०१।।

मरणं खाद्यते तेन स केनापि न खाद्यते ।
तस्य स्यात्परमा सिद्धिरणिमादिगुणप्रदा ।।१०२।।
वायुः सञ्चरते देहे रसवृद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ।
आकाशपङ्कजगलत्पीयूषमपि वर्द्धते ।।१०३।।

इस प्रकार की साधना के परिणामस्वरूप साधक कालजयी बन जाता है । उसका वध किसी प्रकार से भी सम्भव नहीं होता । उसे गुणप्रदायिनी अणिमादिक अष्ट सिद्धियों (अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्य, प्राकाम्य, ईशित्व एवं वशित्व) की उपलबिध हो जाती है । उसके समूचे शरीर में स्वाभाविक गति से वायु का संचरण

होने के फलस्वरूप उसमें रस का वर्धन होता है। तात्पर्य यह है कि उसका प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेशित हो जाता है। उसके सहस्रदल कमल से निरन्तर स्रवित होने वाले अमृत में भी वृद्धि होती है ॥१०२-१०३॥

मणिपूरचक्र वर्णन

तृतीयं पङ्कजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम्।
दशारण्डादिफान्तार्णं शोभितं हेमवर्णकम् ॥१०४॥
रुद्राख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति सर्वमङ्गलदायकः।
तत्रस्था लाकिनी नाम्नी देवी परमधार्मिका ॥१०५॥

नाभिस्थल में अवस्थित रहने वाला तीसरा पद्म मणिपूरचक्र के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह कांचन वर्ण के समान चमकीला और दश पंखुड़ियों से युक्त रहता है। इस कमल के दल पर 'ड' से 'फ' तक के वर्ण अर्थात् ड ढ ण त थ द ध न प और फ वर्ण क्रमानुसार अक्षरान्वित रहते हैं। उस स्थान में सर्वमंगलदायक रुद्र नामक सिद्ध और परमधर्मिणी लाकिनी नाम्नी देवी का निवास रहता है। इसके देवता भगवान विष्णु कहे गये हैं ॥१०४-१०५॥

तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके।
तस्य पाताल सिद्धिः स्यान्निरन्तरसुखावहा ॥१०६॥
ईप्सितं च भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम्।
कालस्य वञ्चनं चापि परदेहप्रवेशनम् ॥१०७॥
जाम्बूनदादिकरणं सिद्धानां दर्शनं भवेत्।
औषधीदर्शनं चापि निधीनां दर्शनं भवेत् ॥१०८॥

जो साधक इस मणिपूर नामक कमलचक्र का सर्वदा ध्यान करते रहते हैं, वे सर्व सिद्धियों की खान पाताल नाम्नी सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं। उनकी सभी अभिलाषाएँ पूरी होती और उनके रोग-शोकादि दुःखों का निवारण होता है। वह कालजयी बनकर परकाया-प्रवेश की शक्ति भी पा लेता है। इस साधना के द्वारा किसी धातु को स्वर्ण में परिवर्तित करने की क्षमता आ जाती है। सिद्ध पुरुषों के दर्शन करने तथा अदृष्ट औषधियों को देखने और उन्हें पहचानने में भी सफल हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह पृथिवी में गुप्त रूप से रखे हुए धन को देखने की शक्ति भी पा लिया करता है ॥१०६-१०८॥

अनाहतचक्र वर्णन

हृदयेऽनाहतं नामचतुर्थं पङ्कजं भवेत्।
कादिठान्तार्णसंस्थानं द्वादशारसमन्वितम्।
अतिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम् ॥१०९॥
पद्मस्थं तत्परं तेजो बाणलिङ्गं प्रकीर्तितम्।
यस्य स्मरणमात्रेण दृष्टादृष्टफलं लभेत् ॥११०॥

यह अनाहतसंज्ञक चतुर्थ पद्म हत्प्रदेश में अवस्थित रहा करता है। इसकी बारह पंशुड़ियाँ पर क्रमशः 'क' से 'ठ' तक अर्थात् क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट और ठ के अक्षरों से अंकित रहता है। यह कमल परमोज्ज्वल और रक्तवर्णीय होता है। यह प्रसन्नस्थल वायु के बीज का अर्थात् प्राणवायु का आधार-स्तम्भ होता है। इस कमल के तेजोराशि को बाणलिंग कहा जाता है। इसके स्मरणमात्र से ही साधक लौकिक एवं पारलौकिक सुखों का उपभोग करने में समर्थ हो जाता है॥१०९-११०॥

सिद्धः पिनाकी यत्रास्ते काकिनी यत्र देवता।
एतस्मिन् सततं ध्यानं हत्पाथोजे करोति यः।
क्षुभ्यन्ते तस्य कान्ता वै कामार्तादिव्ययोषितः॥१११॥
ज्ञानं चाप्रतिमं तस्य त्रिकालविषयं भवेत्।
दूर श्रुतिर्दूरदृष्टिः स्वेच्छया खगतां व्रजेत्॥११२॥

जिस अनाहत नामक पद्म के सिद्ध शिवजी और अधिष्ठातृ देवी काकिनी है उस हत्कमल में जो सर्वदा ध्यानावस्थित रहते हैं उनके निकट देवांगनाएँ भी कामासक्त भाव से आती हैं। इस साधन के द्वारा योगी त्रिकालज्ञ बन जाता है। अर्थात् उसमें दूर शब्दश्रवण, दूरदर्शन तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म दूरस्थ वस्तुओं के अवलोकन की क्षमता आ जाती है। वह नभचारी जीवों की भाँति स्वेच्छया आकाश में भी उड़ान भर सकता है॥१११-११२॥

सिद्धानां दर्शनं चापि योगिनां दर्शनं तथा।
भवेत् खेचरसिद्धिश्च खेचराणां जयं तथा॥११३॥
यो ध्यायति परं नित्यं बाणलिङ्गं द्वितीयकम्।
खेचरी भूचरी सिद्धिर्भवेत्तस्य न संशयः॥११४॥
एतद्ध्यानस्य माहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते।
ब्रह्माद्याः सकलादेवा गोपयन्ति परन्त्विदम्॥११५॥

ऐसे साधक को सिद्ध पुरुषों तथा योगियों के दर्शन मिलते हैं। खेचरी मुद्रा की सम्पन्नतावश वह आकाशगामी जीवों को भी अपने अधीन बना लेता है। जो साधक इस परम अविनश्वर द्वितीय बाणलिंग का ध्यान धारण करता है उसे खेचरी और भूचरी मुद्रा की सिद्धि मिल जाया करती है। इस अनाहत पद्म के माहात्म्य का वर्णन करना नितांत असम्भव है। इसे ब्रह्मादि देवता भी किसी के प्रति व्यक्त नहीं करते॥११३-११५॥

विशुद्धचक्र वर्णन

कण्ठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्धं नाम पञ्चमम्।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वरसंयुतम्।
छगलाण्डोऽस्ति सिद्धोऽत्र शाकिनीचाधिदेवता॥११६॥

विशुद्ध नामधारी पंचम पद्म की अवस्थिति कंठप्रदेश में रहती है जिसका रंग सोने के समान सुनहला तथा सोलह स्वरों से युक्त षोडश पंखुड़ियों वाला कहा गया है। इसकी

पंखुडियों पर 'अ' अक्षर से लेकर 'अ:' तक के सोलह स्वर अर्थात् अ,आ, इ,ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं तथा अ: स्वर विभूषित रहते हैं। इस स्थान में छगलांड नामक सिद्ध तथा अधिष्ठातृ देवी शाकिनी सदैव निवसित रहते हैं ॥११६॥

ध्यानं करोति यो नित्यं स योगीश्वरपण्डितः ।
किन्त्वस्य योगिनोऽन्यत्र विशुद्धाख्ये सरोरुहे ।
चतुर्वेदा विभासन्ते सरहस्या निधेरिव ॥११७॥
इह स्थाने स्थितो योगी यदा क्रोधवशो भवेत् ।
तदा समस्तं त्रैलोक्यं कम्पते नात्र संशयः ॥११८॥

इस विशुद्ध चक्र में प्रतिदिन ध्यानरत रहने वाले पुरुष ही योगीश्वर तथा पंडित कहलाते हैं। इस विशुद्ध पद्म के ध्यान धारण के फलस्वरूप उसे चारों वेदों (ऋक्, यजु:, साम एवं अथर्व) की सांगोपांग उपलब्धि उसी प्रकार हो जाती है जिस प्रकार किसी को धनागार की होती है। यदि विशुद्ध पद्म में अवस्थित योगी कदाचित् क्रोधित हो उठे तो उसके क्रोधावेश से सम्पूर्ण त्रैलोक्य थर्रा उठता है। यह बात निश्चित रूप से सत्य है ॥११७-११८॥

इह स्थाने मनो यस्य दैवात् याति लयं यदा ।
तदा बाह्यं परित्यज्य स्वान्तरे रमते ध्रुवम् ॥११९॥
तस्य न क्षतिमायाति स्वशरीरस्य शक्तितः ।
संवत्सरसहस्रेऽपि वज्रातिकठिनस्य वै ॥१२०॥
यदा त्यजति तद्ध्यानं योगीन्द्रोऽवनिमण्डले ।
तदा वर्षसहस्राणि मन्यते तत्क्षणं कृती ॥१२१॥

संयोगवश जब साधक का चित्त इस कमल में विलीन हो जाता है तब वह समस्त बाह्य विषयों को छोड़कर शरीर के अन्दर ही प्राणवायु के साथ रमणशील रहा करता है। उसमें इतनी दृढ़ता आ जाती है कि उसका क्षय नहीं होता तथा उसका शरीर वज्रवत् कठोर हो जाता है। जब सहस्र वर्षों की समाधि पूर्ण कर लेने के पश्चात् उसकी समाधि टूटती है तो उसकी मनोवृत्ति का पुनरावर्तन संसार में हो जाता है। इतना लम्बा समय व्यतीत होने पर भी उसे विगत काल क्षणभर व्यतीत होने-सा जान पड़ता है। अर्थात् समाधि की अवस्था में योगी को काल का बोध नहीं होता ॥११९-१२१॥

आज्ञाचक्र वर्णन

आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम् ।
शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी ॥१२२॥

भौंहों के मध्यवर्ती भाग में स्थित आज्ञा पद्म में दो श्वेतवर्णीय दल होते हैं जिन पर 'हं' और 'क्षं' बीजाक्षर अंकित रहते हैं। उस स्थान में महाकाल नामक सिद्ध तथा अधिष्ठातृ देवी हाकिनी का निवास रहता है। इस आज्ञाचक्रसंज्ञक कमल के अधिष्ठाता देवता परमात्मा कहे जाते हैं ॥१२२॥

शरच्चन्द्रनिभं तत्राक्षरबीजं विजृम्भितम् ।
पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसीदति ।।१२३।।
तत्र देवः परन्तेजः सर्वतन्त्रेषु मन्त्रिणः ।
चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नात्र संशयः ।।१२४।।

उस आज्ञापद्म के बीच में शारदीय चंद्र की आभावाला परम तेजवान् चंद्रबीज अर्थात् 'ठं' बीज की अवस्थिति रहती है। उस बीज का बोध हो जाने पर परमहंस पुरुष में कभी न तो थकावट आती है और न ही किसी प्रकार की क्लेशानुभूति होती है। इस महान तेजवान् प्रकाश को सदा ही गुप्त रखना आवश्यक होता है। इसके चिंतनमात्र से निश्चय ही परमसिद्धि की उपलब्धि होती है ॥१२३-१२४॥

तुरीयं त्रितयं लिङ्गं तदाहं मुक्तिदायकः ।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मत्समो भवति ध्रुवम् ।।१२५।।
इडा हि पिङ्गला ख्याता वरणासीति होच्यते ।
वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथोऽत्रभाषितः ।।१२६।।

शिवजी ने कहा—हे पार्वति! उस स्थान में तुरीयावस्था वाले तृतीय लिंग के रूप में मुक्तिप्रदाता मैं स्वयं ही विराजमान रहा करता हूँ। इसके ध्यानमात्र से साधक मेरे समान योगीन्द्र बन जाता है। अर्थात् जो योगी तुरीयावस्था में तृतीय लिंगरूप मेरा ध्यान करता है वह सायुज्य मुक्ति (सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य—इन चार प्रकार की मुक्तियों में से एक। सायुज्य मुक्ति में साधक परमात्म-स्वरूप होकर उसी में समा जाता है) पाने का अधिकारी बन जाता है। शरीरस्थ इड़ा और पिंगला नाम्नी नाड़ियों को वरणा और असी (एक नदी) अर्थात् वाराणसी कहा जाता है। इसी वाराणसी नगर के मध्य में 'विश्वनाथ' के नाम से स्वयं ही प्रतिष्ठित रहता हूँ ॥१२५-१२६॥

एतत् क्षेत्रस्य माहात्म्यं मृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परं तत्त्वं सुभाषितम् ।।१२७।।
सुषुम्णा मेरुणा याता ब्रह्मरन्ध्रं यतोऽस्ति वै ।
ततश्चैषा परावृत्त्या तदाज्ञापद्मदक्षिणे ।
वामनासापुटं याति गङ्गेति परिगीयते ।।१२८।।

तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने अनेक शास्त्रों में अनेक बार वाराणसी क्षेत्र के महत्त्व का निरूपण परमतत्त्व के रूप में किया है। अर्थात् सभी शास्त्रों और ऋषियों ने वाराणसी को परमतत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) के द्वारा सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र तक चली गयी है तथा इड़ा नाड़ी सुषुम्ना को आवृत करती हुई आज्ञाचक्र के दक्षिणी ओर से चलकर वाम नासारन्ध्र में जा पहुँचती है। इसी को 'गंगा' की संज्ञा दी गयी है ॥१२७-१२८॥

ब्रह्मरन्ध्रे हि यत् पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्दे हि या योनि तस्यां चन्द्रोव्यवस्थितः ।।१२९।।
त्रिकोणाकारतस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम् ।
इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमाः ।।१३०।।
अमृतं वहति द्वारा धारारूपं निरन्तरम् ।
वामनासापुटं याति गंगेत्युक्ता हि योगिभिः ।।१३१।।

ब्रह्मरन्ध्रस्थ सहस्रसार कमल-कंद में अवस्थित योनि में सदैव ही चन्द्रमा सुशोभित रहता है । उस त्रिकोणाकार योनि द्वारा निरन्तर चन्द्रामृत का स्राव होता रहता है । उस चन्द्रमा से क्षरित होने वाला अमृत इड़ा नाड़ी द्वारा सदा ही धारारूप में गमनशील रहता है । इड़ा नाड़ी का बहाव वाम नासापुट में होने के फलस्वरूप योगीवृन्द इसे गंगा के नाम से संबोधित करते हैं ॥१२९-१३१॥

आज्ञापङ्कजदक्षांसाद्वामनासापुटं गता ।
उदग्वहेति तत्रेडा गङ्गेति समुदाहृता ।।१३२।।
ततो द्वयमिह स्थाने वाराणस्यान्तु चिन्तयेत् ।
तदाकारा पिङ्गलापितदाज्ञाकमलोत्तरे ।
दक्षनासापुटे याति प्रोक्तास्माभिरसीति वै ।।१३३।।

जब इड़ा नाड़ी आज्ञाचक्र के दक्षिण भाग से चलकर वाम नासापुट में प्रस्थान करती है तब इसी को उद्‌गवाहिनी गंगा कहते हैं । अतः इड़ा और पिंगला नाड़ी के मध्यवर्ती स्थान को वाराणसी समझकर चिन्तना करनी चाहिए । इस इड़ा नाड़ी की भाँति पिंगला नाड़ी भी आज्ञाचक्र के वाम भाग से चलकर दाएँ नासापुट में चली जाती है । अतएव हे देवि ! इसी कारण मैंने पिंगला का असी नामकरण किया है ॥१३२-१३३॥

मूलाधारे हि यत् पद्मं चतुष्पत्रं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्देऽस्ति या योनिस्तस्यां सूर्यो व्यवस्थितः ।।१३४।।

चार पंखुड़ियों वाले मूलाधार कमल-कंद में योनि की विद्यमानता रहती है और वही सूर्य का आवास-स्थान है ॥१३४॥

तत् सूर्यमण्डलद्वारं विषं क्षरति सन्ततम् ।
पिंगलायां विषं तत्र समर्थयति तापनः ।।१३५।।
विषं तत्र वहन्ती या धारारूपं निरन्तरम् ।
दक्षनासापुटे याति कल्पितयन्तु पूर्ववत् ।।१३६।।

उस सूर्यमण्डल से लगातार विष का क्षरण होता रहता है । वह विष पिंगला नाड़ी द्वारा धारारूप में सदा प्रवहमान रहा करता है । यह पिंगला नाड़ी दाएँ नासापुट की ओर चली जाती है ॥१३५-१३६॥

आज्ञापङ्कजवामा स्याद्दक्षनासापुटं गता ।
उदग्वहा पिङ्गलापि पुरासीति प्रकीर्तिता ।।१३७।।
आज्ञापद्ममिदं प्रोक्तं यत्र देवो महेश्वरः ।
पीठत्रयं ततश्चोर्ध्वं निरुक्त योगचिन्तकैः ।
तद्बिन्दुनादशक्त्याख्यं भालपद्मे व्यवस्थितम् ।।१३८।।

यह पिंगला नाम्नी नाड़ी आज्ञापद्म के बाएँ भाग से चलकर दाहिने नासापुट में चली गयी है । इसी हेतु इसे असी नाम से पुकारा जाता है । इस आज्ञाचक्र के अधिष्ठाता देव महेश्वर कहे गये हैं । योग-चिन्तक साधकों का कहना है कि इस आज्ञा नामक कमल के ऊपर तीन पीठस्थानों की अवस्थिति है जिन्हें नाद, बिन्दु और शक्ति के नाम से सम्बोधित किया जाता है । ये तीनों ही दोनों भौंहों के बीच में स्थित भालपद्म में शोभायमान रहते हैं ॥१३७-१३८॥

यः करोति सदा ध्यानमाज्ञापद्मस्य गोपितम् ।
पूर्वजन्मकृतं कर्म विनश्येदविरोधतः ।।१३९।।
इह स्थितः सदा योगी ध्यानं कुर्यान्निरन्तरम् ।
तदा करोति प्रतिमां प्रतिजापमनर्थवत् ।।१४०।।
यक्षराक्षसगन्धर्वा अप्सरोगणकिन्नराः ।
सेवन्ते चरणौ तस्य सर्वे तस्य वशानुगाः ।।१४१।।

जो साधक इस आज्ञापद्म के ध्यान में गुप्त रूप से संलग्न रहा करते हैं उनके पूर्व जन्मार्जित सभी फल निर्बाध रूप से विनष्ट हो जाया करते हैं । अर्थात् उन्हें किसी फल को भोगने की आवश्यकता नहीं रह जाती । इस आज्ञाकमल के ध्यान में निरन्तर साधनारत रहने वाले योगी के लिए मूर्तिपूजन या मंत्रजाप करना अनावश्यक होता है । ऐसे साधक के प्रति यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा तथा किन्नरादिगण उसके अधीन रहकर उसकी चरण-सेवा में निरत रहा करते हैं ॥१३९-१४१॥

करोति रसनां योगी प्रविष्टां विपरीतगाम् ।
लम्बिकोऽर्ध्वेषु गर्तेषु धृत्वा ध्यानं भयापहम् ।।१४२।।
अस्मिन् स्थाने मनो यस्य क्षणार्द्धं वर्ततेऽचलम् ।
तस्य सर्वाणि पापानि संक्षयं यान्ति तत्क्षणात् ।।१४३।।
यानि यानीह प्रोक्तानि पञ्चपद्मे फलानि वै ।
तानि सर्वाणि सुतरामेतज्ज्ञानाद्भवन्ति हि ।।१४४।।

जो योगसाधक अपनी जिह्वा को ऊपर की ओर पलटकर तालुमूल अर्थात् गलघंटिका से सटा दे और स्थिरचित्त से क्षणभर भी उस भयविनाशक आज्ञाचक्र के ध्यान में निमग्न हो जाय तो उसके समस्त पाप-पुंज उसी समय नाश को प्राप्त हो जाते हैं। पूर्वकथित पंच पद्मों के जो-जो फल वर्णित किये गये हैं वे सभी फल केवल

इस आज्ञाचक्र के ध्यान से एक साथ ही मिल जाया करते हैं ।।१४२-१४४।।

यः करोति सदाभ्यासमाज्ञापद्मे विचक्षणः ।
वासनाया महाबन्धं तिरस्कृत्य प्रमोदते ।।१४५।।
प्राणप्रयाणसमये तत्पद्मं यः स्मरन्सुधीः ।
त्यजेत्प्राणं स धर्मात्मा परमात्मनिलीयते ।।१४६।।

इस आज्ञापद्म के ध्यान में सदा ही रत रहने वाल प्रतिभाशाली साधक वासनारूपी महाबन्धन को तोड़कर आनंदविभोर रहा करते हैं । अर्थात् इसके निरन्तराभ्यास से वासना के बंधन का उन्मूलन हो जाता है । जो प्रबुद्ध और धर्मनिष्ठ योगी अन्तकाल में इस आज्ञापद्म का ध्यान करता है उसके प्राण परमेश्वर में समाहित हो जाते हैं ।।१४५-१४६।।

तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् जाग्रत् यो ध्यानं कुरुते नरः ।
पापकर्मविकुर्वाणो न हि मज्जति किल्बिषे ।।१४७।।
राजयोगाधिकारी स्यादेतच्चिन्तनतो ध्रुवम् ।
योगीबन्धाद्विनिर्मुक्तः स्वीयया प्रभया स्वयम् ।।१४८।।
द्विदलध्यानमाहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते ।
ब्रह्मादिदेवताश्चैव किञ्चिन्मत्तो वदन्ति ते ।।१४९।।

जो पुरुष उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते इस आज्ञाचक्र के ध्यान में सदैव निरत रहते हैं,वे यदि पाप-परायण भी हों तो भी उनकी मुक्ति सुनिश्चित रहती है । इस आज्ञापद्म का ध्यानी साधक निश्चय ही राजयोग का अधिकारी बनता है । यह बात नितान्त ही सत्य है । वह अपने तेज के फलस्वरूप समस्त बंधनों से स्वतः ही मुक्त हो जाता है । उसे मोक्षलाभ के लिए किसी अन्य उपाय का सहारा नहीं लेना पड़ता । हे देवि ! इस दो पंखुड़ी वाले कमल के माहात्म्य का वर्णन करने में कोई भी प्राणी सक्षम नहीं हो सकता । इसके माहात्म्य का अल्प मात्रा में ज्ञान रखने वाले ब्रह्मादि देवगण भी मेरे ही द्वारा जान सके हैं ।।१४७-१४९।।

सहस्त्रपदलीय पद्म का वर्णन

अत ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्त्रारं सरोरुहम् ।
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ।।१५०।।
तालुमूले सुषुम्णास्य अधोवक्त्रा प्रवर्तते ।
मूलाधारेण योन्यन्ताः सर्वनाड्यः समाश्रिताः ।
तां बीजभूतास्तत्त्वस्य ब्रह्ममार्गप्रदायिकाः ।।१५१।।

इसी आज्ञाचक्र के ऊपर तालुमूल में सहस्त्रदलीय कमल की अवस्थिति रहती है । वहीं पर ब्रह्मरन्ध्र के विवर मूल में सुषुम्ना नाड़ी की भी स्थिति होती है । उसका मुख नीचे की ओर तालुमूल में वर्तमान रहता है । मूलाधार से योनिस्थान तक अन्य

जितनी भी नाड़ियाँ हैं वे सभी इस तत्त्वबोध की बीजरूपिणी तथा ब्रह्मपंथ-प्रदायिनी सुषुम्ना नाड़ी के आश्रयभूत रहती हैं ॥१५०-१५१॥

तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्रारं पुरोदितम् ।
तत्कन्दे योनिरेकास्ति पश्चिमाभिमुखी मता ।।१५२।।
तस्य मध्ये सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ।
ब्रह्मरन्ध्र तदेवोक्तमामूलाधारपङ्कजम् ।।१५३।।

तालुस्थान में स्थित रहने वाले सहस्रार के कमल-कन्द में एक योनि उसके पृष्ठभाग में अर्थात् पीछे की ओर मुखवाली होकर रहती है । उस योनि के बीच वाले रन्ध्र में सुषुम्ना नाड़ी की अवस्थिति रहा करती है । उस रन्ध्र को ही ब्रह्मरन्ध्र का नाम दिया गया है तथा मूलाधार पद्म भी कहा जाता है ॥१५२-१५३॥

तत्रान्तरन्ध्रे चिच्छक्तिः सुषुम्णाकुण्डली सदा ।।१५४।।
सुषुम्णायां स्थिता नाडी चित्रा स्यान्मम वल्लभे ।
तस्यां मम मते कार्या ब्रह्मरन्ध्रादिकल्पना ।।१५५।।

यह कुंडलिनी, सुषुम्ना नाड़ी के विवर में सदैव ही सुशोभित रहती है । सुषुम्ना के आन्तरिक भाग में स्थित रहने वाली इस नाड़ी को चित्रा नाड़ी कहा जाता है । हे पार्वति ! इसी चित्रा नाड़ी से ही ब्रह्मरन्ध्र की कल्पना की गयी है, ऐसा मेरा अभिमत है ॥१५४-१५५॥

यस्याः स्मरणमात्रेण ब्रह्मज्ञत्वं प्रजायते ।
पापक्षयश्च भवति न भूयः पुरुषो भवेत् ।।१५६।।
प्रवेशितं चलाङ्गुष्ठं मुखे स्वस्य निवेशयेत् ।
तेनात्र न वहत्येव देहचारी समीरणः ।।१५७।।

इस चित्रानाड़ी के ध्यानमात्र से ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति होती है जिसके फलस्वरूप योगाभ्यासी अपने समस्त पापों का उन्मूलन कर सांसारिक आवागमन के बंधन में नहीं आता । यदि दाएँ हाथ के अँगूठे को मुख में प्रविष्ट कराकर पूरा मुख पूरी तरह से बन्द कर लिया जाय तो शरीर में संचरित होने वाला वायु स्थिरत्व पा लेता है । इस वायुरोधी प्रक्रिया के द्वारा निश्चय ही वायु का स्थिरीकरण होता है ॥१५६-१५७॥

तेन संसारचक्रेऽस्मिन्न भ्रमन्ते च सर्वदा ।
तदर्थं ये प्रवर्तन्ते योगिनः प्राणधारणे ।।१५८।।
तत एवाखिला नाडी निरुद्धा चाष्टवेष्टनम् ।
इयं कुण्डलिनी शक्ती रन्ध्रंत्यजति नान्यथा ।।१५९।।

प्राणवायु के स्थिरीकरण के पश्चात् अभ्यासी को सांसारिक आवागमन के चक्र में परिभ्रमण करने से छुटकारा मिल जाता है अर्थात् उसे जन्म-मरण के फन्दे में बँधना नहीं होता । इसी कारण योगीजन प्राणवायुधारक प्रक्रिया की ओर उन्मुख हुआ करते

हैं। इस प्रकार के अभ्यास से समस्त मलावृत नाड़ियाँ खुल जाती हैं। आशय यह है कि काम, क्रोध, लोभ, मोहादि अष्ट विकारों के परिणामस्वरूप बन्द पड़े हुए मुख अनावृत हो जाते हैं तथा कुंडलिनी शक्ति भी ब्रह्मरन्ध्र का त्याग कर देती है जिसके फलस्वरूप जीव का परमात्मा के साथ एकत्व स्थापित हो जाता है ॥१५८-१५९॥

यदा पूर्णासु नाडीषु संनिरुद्धानिलास्तदा ।
बन्धत्यागेन कुण्डल्या मुखं रन्ध्राद्वहिर्भवेत् ।
सुषुम्णायां सदैवायं वहेत्प्राणसमीरणः ।।१६०।।

वायु के सन्निरोध होने से समस्त नाड़ियाँ उस वायु से परिपूर्ण हो उठती हैं। तदनन्तर कुंडलिनी शक्ति अपने बंधन को परित्याग कर ब्रह्मरन्ध्र के मुख को खुला छोड़कर बाहर निकल आती है। ऐसी अवस्था आने पर सुषुम्ना नाड़ी में सदैव ही अबाध गति से प्राणवायु का प्रवाह होने लगता है ॥१६०॥

मूलपद्मस्थिता योनिर्वामदक्षिणकोणतः ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा योनिमध्यगा ।।१६१।।
ब्रह्मरन्ध्रन्तु तत्रैव सुषुम्णाधारमण्डले ।
यो जानाति स मुक्तः स्यात्कर्मबन्धाद्विचक्षणः ।।१६२।।

मूलाधार पद्म में स्थित रहनेवाली योनि के बायीं ओर इड़ा और दायीं ओर पिंगला नाड़ी का निवास माना गया है। इन्हीं द्वय नाड़ियों के बीच में रहने वाली सुषुम्ना नाड़ी योनिस्थान तक चली जाती है। उस सुषुम्ना के मध्य भाग में ब्रह्मरन्ध्र की स्थिति होती है। इसकी ज्ञानोपलब्धि होने पर प्रबुद्ध साधक सांसारिक कर्मबंधन से रहित हो जाता है ॥१६१-१६२॥

ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां सङ्गमः स्यादसंशयः ।
तस्मिन् स्नाने स्नातकानां मुक्तिः स्यादविरोधतः ।।१६३।।
गंगायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती ।
तासान्तुसङ्गमेस्नात्वा धन्योयाति पराङ्गतिम् ।।१६४।।

उक्त तीनों नाड़ियों—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का मिलन-स्थल ब्रह्मरन्ध्र का मुख होता है। अर्थात् ये तीन नाड़ियाँ त्रिवेणी संगम के समान होती हैं। इस संगम में स्नान करने वाले ज्ञानीजन निश्चय ही उत्तम मुक्ति पाने के पदाधिकारी होते है। गंगा-यमुनारूपी इड़ा-पिंगला के मध्य सरस्वतीस्वरूपा सुषुम्ना नाड़ी अदृश्य रूप से वर्तमान रहा करती है। इसमें स्नान करने वाला स्नानार्थी धन्य हो जाता है और उसे परम दुर्लभ गति प्राप्त होती है ॥१६-१६४॥

इडा गङ्गा पुरा प्रोक्ता पिङ्गला चार्कपुत्रिका ।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां सङ्गोऽतिदुर्लभः ।।१६५।।

सितासिते सङ्गमे यो मनसा स्नानमाचरेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो याति ब्रह्म सनातनम् ।।१६६।।

इन तीन प्रकार की नाड़ियाँ में इड़ा गंगा, पिंगला यमुना तथा इनके मध्य भाग में सुषुम्ना सरस्वती के रूप में प्रवाहित होती रहती है । इन्हीं तीनों को त्रिवेणी संगम का नाम दिया गया है । इस संगम में स्नान करना परम दुर्लभ है । इस इड़ा और पिंगला के संगमस्थल में मानसिक रूप से स्नानकर्ता साधक सम्पूर्ण पापों से विमुक्त होकर शाश्वत ब्रह्म में विलीन हो जाता है ॥१६५-१६६॥

त्रिवेण्यां सङ्गमे यो वै पितृकर्म समाचरेत् ।
तारयित्वा पितॄन्सर्वान्स याति परमां गतिम् ।।१६७।।
नित्य नैमित्तिकं काम्यं प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
मनसा चिंतयित्वा तु सोऽक्षयं फलमाप्नुयात् ।।१६८।।

इस त्रिवेणी संगम में स्नानोपरांत जो पितृकर्म अर्थात् श्राद्धादि कर्मों की क्रिया करते हैं वे इसके फलस्वरूप अपने पितरों का उद्धार कर स्वयं मोक्षलाभ करते हैं । जो साधक इस त्रिवेणी संगम में नित्य (प्रतिदिन किया जाने वाला), नैमित्तिक (किसी विशेष पर्व पर किया जाने वाला) तथा काम्य कर्मों (विशिष्ट इच्छापूर्ति हेतु किया जाने वाला) प्रतिपादन करते हुए मनसा चिंतन करते हैं, उन्हें अमोघ फल की प्राप्ति होती है ॥१६७-१६८॥

सकृद्यः कुरुते स्नानं स्वर्गो सौख्यं भुनक्ति सः ।
दग्ध्वापापानशेषान्वै योगीशुद्धमतिः स्वयम् ।।१६९।।
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
स्नानाचरणमात्रेण पूतो भवति नान्यथा ।।१७०।।

यदि विशुद्ध बुद्धि वाले योगाभ्यासी इस त्रिवेणी संगम में एक बार भी स्नानार्थ डुबकी लगा लेते हैं तो वे अपने शेष सभी पापों को जलाकर सुखोपभोक्ता बन जाते हैं । वे पवित्रा अथवा अपवित्रा अवस्था में रहकर भी इस संगम-स्नान से पूर्णतया पवित्र हो जाते हैं । इस बात को कभी मिथ्या नहीं जानना चाहिए ॥१६९-१७०॥

मृत्युकाले प्लुतं देहं त्रिवेण्याः सलिले यदा ।
विचिन्त्य यस्त्यजेत्प्राणान्स तदामोक्षमाप्नुयात् ।।
नातः परतरं गुह्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
गोप्तव्यं तत्प्रयत्नेन न व्याख्येयं कदाचन ।।१७२।।

जो योगी मृत्युकाल में, अपने मन में ऐसी भावना रखता है कि मैं इस त्रिवेणी संगम में डुबकी लगा रहा हूँ तो वह उसी क्षण अपने प्राणपखेरू को छोड़कर मुक्ति प्राप्त कर लेता है । इस तीर्थ से उत्तम अन्य कोई भी तीर्थ त्रैलोक्य में नहीं होता। इस त्रिवेणी संगम में मानसिक स्नान की रीति को सदैव ही गुप्त रखना चाहिए ।

अर्थात् इसे किसी अयोग्य व्यक्ति के समक्ष प्रकट नहीं करना चाहिए ॥१७१-१७२॥

ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्त्वा क्षणार्द्धं यदि तिष्ठति ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ।।१७३।।
अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते ।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ।।१७४।।

जो साधक आधे क्षण भी अपने चित्त को ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर कर ले तो वह सर्व पापों से रहित होकर मोक्ष को पा लेता है। हे पार्वति ! ब्रह्मरन्ध्र में मन को स्थिर रखनेवाला योगाभ्यासी अणिमादिक सिद्धियों का भोक्ता बनकर स्वेच्छया मुझमें ही विलीन हो जाता है। अर्थात् इस प्रकार के अभ्यास द्वारा सिद्धाभिलाषी सिद्धि को तथा मोक्षाभिलाषी मोक्ष को प्राप्त कर लिया करता है ॥१७३-१७४॥

एतद्रन्ध्रध्यानमात्रेण मर्त्यः संसारेऽस्मिन् वल्लभो मे भवेत्सः ।
पापान् जित्वा मुक्तिमार्गाधिकारी ज्ञानं दत्त्वा तारयत्यद्भुतं वै ।।१७५।।

शिवजी बोले—हे देवि ! ब्रह्मरन्ध्र का ध्यानकर्ता प्राणी मेरा प्रियपात्र बन जाता है तथा वह पाप-पुंजों को विजित कर मोक्षमार्गगामी हो जाता है। वह अपने ज्ञानोपदेश द्वारा अन्य मोक्षार्थियों का भी सांसारिक आवागमन से उद्धार कर दिया करता है ॥१७५॥

चतुर्मुखादित्रिदशैरगम्यं योनिवल्लभम् ।
प्रयत्नेन सुगोप्यं तद्ब्रह्मरन्ध्र मयोदितम् ।।१७६।।
पुरा मयोक्ता या योनिः सहस्रारे सरोरुहे ।
तस्याधो वर्तते चन्द्रस्तद्ध्यानं क्रियते बुधैः ।।१७७।।

हे देवि ! मेरे द्वारा कथित इस ब्रह्मरन्ध्र का ध्यान योगिजनों के लिए परम प्रियकारक होता है। अतः इसे सावधानीपूर्वक गुप्त रखना आवश्यक है। इस अगम्य पथ का पथिक बनना ब्रह्मादि देवों के लिए भी दुष्कर कार्य होता है। मैंने पूर्व में सहस्रार पद्म के मध्य में जिस योनिमंडल को बतलाया है, उसी के नीचे चन्द्रमा का अवस्थान है। इस चन्द्रमा का ध्यान प्रबुद्ध योगी सदा ही किया करते हैं ॥१७६-१७७॥

यस्य स्मरणमात्रेण योगीन्द्रोऽवनिमण्डले ।
पूज्यो भवति देवानां सिद्धानां सम्मतो भवेत् ।।१७८।।
शिरः कपालविवरे ध्यायेद्दुग्धमहोदधिम् ।
तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत् ।।१७९।।

इस चन्द्रमण्डल के स्मरणमात्र से श्रेष्ठ योगी देवताओं और सिद्धों के समान संसार में पूजनीय बन जाता है। अर्थात् वह समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी बन जाता है। योगी को शिरस्थ कपाल-कुहर में क्षीरसागर का ध्यान करना चाहिए। साथ ही वहीं पर स्थित सहस्रार पद्म में चन्द्रमा का चिन्तन करना भी आवश्यक है ॥१७८-१७९॥

शिरः कपालविवरे द्विरष्टकलया युतः ।
पीयूषभानुहंसाख्यं भावयेत्तं निरञ्जनम् ।।१८०।।
निरन्तरकृताभ्यासात्त्रिदिने पश्यति ध्रुवम् ।
दृष्टिमात्रेण पापौघं दहत्येव स साधकः ।।१८१।।

उक्त शिरस्थ कपाल-कुहर में षोडश कलाओं तथा अमृत-किरणों से परिपूर्ण हंस नामक निरंजन आत्मा का स्मरण करे । इस प्रकार तीन दिनों के सतत अभ्यास द्वारा निःसंशय ही आत्म-साक्षात्कार होता है । उस आत्म-दर्शन के फलस्वरूप साधक के सभी पातक जलकर राख हो जाते हैं ।।१८०-१८१।।

अनागतञ्च स्फुरति चित्तशुद्धिर्भवेत्खलु ।
सद्यः कृत्वापि दहति महापातकपञ्चकम् ।।१८२।।
आनुकूल्यं ग्रहा यान्ति सर्वे नश्यन्त्युपद्रवाः ।
उपसर्गाः शमं यान्ति युद्धे जयमवाप्नुयात् ।।१८३।।

शिरस्थ चंद्रमा में चिंतन के परिणामस्वरूप चिंतक में अनुत्पन्न विषयों की अनुभूति होने लगती है । इस प्रकार की चिन्तना से चित्त का विशुद्धिकरण होकर पाँच प्रकार के पापों का विनाश हो जाता है । उसके सभी अनिष्टकारी ग्रह अनुकूल हो जाते, सभी उपद्रवों के औपसर्गिक लक्षण शमित होते तथा योद्धाओं को रणभूमि में विजय-लाभ के अवसर मिलते हैं ।।१८२-१८३।।

खेचरी भूचरी सिद्धिर्भवेच्छीरेन्दुदर्शनात् ।
ध्यानादेव भवेत्सर्वं नात्र कार्य विचारणा ।।१८४।।
सन्तताभ्यासयोगेन सिद्धो भवति मानवः ।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं मम तुल्यो भवेद्ध्रुवम् ।।
योगशास्त्रं च परमं योगिनां सिद्धिदायकम् ।।१८५।।

इस शिरस्थ चंद्र में ध्यान-परायण योगी को खेचरी-भूचरी की सिद्धि अवश्य ही मिलती है । हे देवी पार्वति ! इसका ध्यानाभ्यासी साधक निश्चय ही सिद्ध पुरुष हो जाता है । मेरा यह कथन बारम्बार सत्य है । ऐसा साधक मेरे समतुल्य हो जाता है । यही परम योग और साधकों का सिद्धिदाता है ।।१८४-१८५।।

राजयोग वर्णन

अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम् ।
ब्रह्माण्डाख्यस्य देहस्य बाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम् ।।१८६।।
कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ।
अकुलाख्योऽविनाशी च क्षयवृद्धिविवर्जितः ।।१८७।।

तालु के ऊपरी भाग में दिव्य रूप सहस्रार कमल ब्रह्माण्डरूप शरीर के बाह्य भाग में स्थित रहता है । यह मुक्तिप्रदाता कमल कैलास नाम से विख्यात है ।

शरीररूपी कैलासशिखर पर महेश्वर का निवास कहा गया है। यह कुलहीन नामक ईश्वर सदैव अविनश्वर होता है। इसमें किसी प्रकार का घटाव-बढ़ाव या परिवर्तन नहीं होता ॥१८६-१८७॥

स्थानस्यास्य ज्ञानमात्रेण नृणां संसारेऽस्मिन् सम्भवो नैव भूयः।
भूतग्रामं सन्तताभ्यासयोगात् कर्तुं हर्तुं स्याच्च शक्तिः समग्राः ॥१८८॥

इस कैलासीय स्थान का ज्ञान ग्रहण कर लेने पर मानव का संसार में पुनरागमन नहीं होता। इस ज्ञान के अभ्यासी साधक में समस्त प्राणियों के हेतु उत्पादक और संहारक शक्ति आ जाती है। अर्थात् इस प्रकार का ज्ञान-सम्पन्न योगी समस्त कर्म-अकर्म करने में सक्षम हो जाता है ॥१८८॥

स्थाने परे हंसनिवासभूते कैलासनाम्नीह निविष्टचेताः।
योगी हृतव्याधिरधः कृताधिर्वायुश्चिरं जीवति मृत्युमुक्तः ॥१८९॥

यह कैलाससंज्ञक स्थान परमहंस का आवासीय स्थल होता है। अतः इस स्थान में अपने चित्त का स्थिरीकरण करने वाला साधक समस्त रोगों से मुक्ति दिलाने तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त कराने वाला हो जाता है। अर्थात् वह दीर्घजीवी बन जाता है ॥१८९॥

चितवृत्तिर्यदा लीना कुलाख्ये परमेश्वरे।
तदा समाधिसाम्येन योगी निश्चलतां व्रजेत् ॥१९०॥
निरन्तरकृते ध्याने जगद्विस्मरणं भवेत्।
तदा विचित्रसामर्थ्यं योगिनो भवति ध्रुवम् ॥१९१॥

इस कुलसंज्ञक ईश्वर में अपनी मनोवृत्ति का विलयन कर लेने वाला योगी अचल समाधि में निमग्न हो जाया करता है। उसमें जागतिक विषयों की विस्मृति तथा विचित्र प्रकार की क्षमता की उत्पत्ति हो जाती है। यह कथन बिलकुल ही सत्य है ॥१९०-१९१॥

तस्माद्गलितपीयूषं पिबेद्योगी निरन्तरम्।
मृत्योर्मृत्युं विधायाशु कुलं जित्वा सरोरुहे ॥१९२॥
अत्र कुण्डलिनीशक्तिर्लयं याति कुलाभिधा।
तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि ॥१९३॥

सहस्त्रदल कमल से टपकते हुए अमृत का सतत पान करने वाला साधक अपने कुल सहित मृत्यु पर भी विजय-लाभ कर लेता है। अर्थात् वह मृत्यु से भी अवध्य हो जाता है। इसी सहस्रार कमल में कुलस्वरूपिणी कुंडलिनी का विलय होता है। उस कुंडलिनी के विलयोपरान्त चारों प्रकार की सृष्टि (अण्डज, पिण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज) भी ईश्वर में समाहित हो जाती है ॥१९२-१९३॥

यज्ज्ञात्वा प्राप्य विषयं चित्तवृत्तिर्विलीयते।
तस्मिन्परिश्रमं योगी करोति निरपेक्षकः ॥१९४॥

चित्तवृत्तिर्यदा लीना तस्मिन् योगी भवेद् ध्रुवम् ।
तदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः ।।१९५।।

इस सहस्त्रार कमल का बोध हो जाने पर मनोवृत्तियों का लय हो जाता है। इसी हेतु योगी के लिए यह अनिवार्य है कि वह इस ज्ञानोपलब्धि में निरपेक्ष भाव से सदा लगा रहे। चित्तवृत्ति के विलय होने के अनन्तर अविभक्त ज्ञानरूप निरंजन आत्मा की ज्योति योगी के हृदय में प्रकाशित होने लगती है ॥१९४-१९५॥

ब्रह्माण्डबाह्ये संचिन्त्य स्वप्रतीकं यथोदितम् ।
तमावेश्य महच्छून्यं चिन्तयेदविरोधतः ।।१९६।।
आद्यन्तमध्यशून्यं तत्कोटिसूर्यसमप्रभम् ।
चन्द्रकोटिप्रतीकाशमभ्यस्य सिद्धिमाप्नुयात् ।।१९७।।
एतत् ध्यानं सदा कुर्यादनालस्यं दिने दिने ।
तस्य स्यात्सकला सिद्धिर्वत्सरान्नात्र संशयः ।।१९८।।

पूर्वकथित रीति से शरीर के बाहरी भाग में अपने प्रतीक स्वरूप का साधक को ध्यान करना उचित है। जब ध्यानावस्था में चित्त का स्थिरीकरण हो जाय तब उसे महान शून्य का चिन्तन करना आवश्यक होता है। अनन्तरूप शून्याकाश में करोड़ों सूर्य के समान दीप्तिमान तथा करोड़ों चन्द्रमा की सुशीतलता के समान प्रकाशवान आत्मदर्शन के अभ्यासी साधक में सिद्धि सुलभ होती है। जो प्राणी आलस्यविहीन होकर प्रतिदिन उस शून्य के ध्यान में तत्पर रहता है वह एक वर्ष के अन्दर ही सम्पूर्ण सिद्धियों की प्राप्ति निःसन्देह रूप से कर लिया करता है ॥१९६-१९८॥

क्षणार्द्धं निश्चलं तत्र मनो यस्य भवेद् ध्रुवम् ।
स एव योगी सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः ।
तस्य कल्मषसङ्घातस्तत्क्षणादेव नश्यति ।।१९९।।
यं दृष्ट्वा न प्रवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।
अभ्यसेत्तं प्रयत्नेन स्वाधिष्ठानेन वर्त्मना ।।२००।।

जो साधक इस शून्य में आधे क्षण भी अपने चित्त को निश्चल बना लेता है, वह निश्चय ही समस्त भुवनों में भक्त और पूजनीय माना जताा है। उसके दर्शनमात्र से ही मानव सांसारिक आवागमन के चक्र में भ्रमण करने से मुक्त हो जाता है। अर्थात् उसका पुनर्जन्म पुनः सम्भव नहीं होता। स्वाधिष्ठान पथ का अनुसरण करते हुए इसका अभ्यास किया जाना चाहिए ॥१९९-२००॥

एतत् ध्यानस्य माहात्म्यं मया वक्तुं न शक्यते ।
यः साधयति जानातिसोऽस्माकमपि सम्मतम् ।।२०१।।
ध्यानादेव विजानाति विचित्रफलसम्भवम् ।
अणिमादिगुणोपेतो भवत्येव न संशयः ।।२०२।।

शिवजी बोले— हे देवि ! मैं इसके माहात्म्य वर्णन में सर्वथा ही अशक्य हूँ। इसका अभ्यासी कोई योगी ही इसके महत्त्व को जान सकता है। इसकी महत्ता को जानने वाले योगी मेरे ही समतुल्य होते हैं। इसकी साधना करने से निश्चय ही साधक को अष्टसिद्धियों की उपलब्धि होती है ॥२०१-२०२॥

राजाधिराजयोग निरूपण

राजयोगो मया ख्यातः सर्वतन्त्रेषु गोपितः ।
राजाधिराजयोगोऽयं कथयामि समासतः ॥२०३॥
स्वस्तिकञ्चासनं कृत्वा सुमठे जन्तुवर्जिते ।
गुरु संपूज्य यत्नेन ध्यानमेतत्समाचरेत् ॥२०४॥

हे देवी पार्वति ! मैंने जिस राजयोग का कथन किया है वह सभी प्रकार से गोपनीय है। अब मैं जिस राजाधिराज योग का विस्तृत वर्णन कर रहा हूँ जिसे तुम श्रणग करो। इसके लिए किसी निर्जन स्थान में अवस्थित मठ में जाकर साधक को गुरुपूजन के पश्चात् स्वस्तिकासन (दोनों घुटनों तथा जाँघों के बीच पैर के दोनों तलुओं को लगाकर बैठने की विधि) की स्थिति में बैठकर ध्यान में लग जाना चाहिए ॥२०३-२०४॥

निरालम्बं भवेज्जीवं ज्ञात्वा वैदान्तयुक्तितः ।
निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिच्चिन्तयेत् सुधीः ॥२०५॥
एतद्ध्यानान्महासिद्धिर्भवत्येव न संशयः ।
वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत् ॥२०६॥

वेदान्त शास्त्र में कथित विधियों के अनुसार प्रबुद्ध साधक अपने चित को निराधार करके केवल जीव की ही चिंतना करे। इस प्रकार के ध्यानाभ्यास से महान सिद्धि की उपलब्धि होंती है। ऐसी दशा में साधक मनोवृत्तियों का निरोध करके स्वयं में परिपूर्ण हो जाता है। अर्थात् वह आत्मस्वरूप बन जाया करता है ॥२०५-२०६॥

साधयेत्सततं यौ वै स योगी विगतस्पृहः ।
अहंनाम न क्रोऽप्यस्ति सर्वदात्मैव विद्यते ॥२०७॥
को बन्धः कस्य वा मोक्ष एकं पश्येत्सदा हि सः ।
एतत् करोति यो नित्यं स मुक्तो नात्र संशयः ॥
स एव योगो सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः ॥२०८॥

उक्त प्रकार की साधना में निरत रहने वाला योगी पूर्णतया कामनारहित हो जाता है। अर्थात् उसके मन में कुछ भी पाने की लालसा नहीं रह जाती। उसके मुख से कभी अहंकारपूर्ण शब्द भी नहीं निकलते। वह समस्त सांसारिक पदार्थों को आत्मवत् ही समझता है। जिसके मन से बंधन और मोक्ष का भेद मिट जाता है तथा जो नित्य ही आत्मदर्शन हेतु चिन्तनशील रहता है वह निश्चय ही मोक्ष का भागी होता है। ऐसा योगी उत्तम भक्त कहलाता और समस्त भुवनों में पूज्य माना जाता है ॥२०७-२०८॥

अहमस्मीति यन्मत्वा जीवात्मपरमात्मनोः ।
अहं त्वमेतदुभयं त्यक्त्वा खण्डं विचिन्तयेत् ।।२०९।।
अध्यारोपापवादाभ्यां यत्र सर्वं विलीयते ।
तद्वीजमाश्रयेद्योगी सर्वसङ्गविवर्जितः ।।२१०।।

योगी को स्वयं में जीवात्मा-परमात्मा की समरूप भावना रखकर चिंतन करना चाहिए। उसे 'मेरा और तेरा' का भेदभाव मिटाकर एक अखण्ड ब्रह्म के ध्यान में ही चित्त को समाविष्ट करना चाहिए। जिस अध्यारोप-प्रत्यारोप में सभी वस्तुओं का विलय होता है उसी बीज का आश्रय ले जन-समुदाय से दूर रहकर एकाकी रूप से साधना पूरी करनी चाहिए ॥२०९-२१०॥

अपरोक्षं चिदानन्दं पूर्णं त्यत्त्वा भ्रमाकुलाः ।
परोक्षं चापरोक्षं च कृत्वा मूढा भ्रमन्ति वै ।।२११।।
चराचरमिदं विश्वं परोक्षं यः करोति च ।
अपरोक्षं परं ब्रह्म त्यक्तंतस्मिन्प्रलीयते ।।२१२।।

भ्रमातुर व्यक्ति साक्षात् ब्रह्म को छोड़कर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष के चक्कर में पड़कर भ्रमित रहा करते हैं। ऐसे लोग इस संसार को ही सत्य मान लेते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं। अर्थात् वे सांसारिक बंधन से कभी नहीं छूट पाते ॥२११-२१२॥

ज्ञानकारणमज्ञानं यथा नोत्पद्यते भृशम् ।
अभ्यासं कुरुते योगी सदा सङ्गविवर्जितः ।।२१३।।
सर्वेन्द्रियाणि संयम्य विषयेभ्यो विचक्षणः ।
विषयेभ्यः सुषुप्त्येव तिष्ठेत्संगविवर्जितः ।।२१४।।

जिस अभ्यास के द्वारा अज्ञान का विनाश और ज्ञान का प्रकाश होता हो वैसे अभ्यास को निःसंग होकर योगसाधक को करने चाहिए। बुद्धिमान साधक विषय-वासनाओं से इन्द्रियों को विमुख करके संगरहित होकर उसी में सुषुप्ति के समान विलीन हो जाते हैं ॥२१३-२१४॥

एवमभ्यासतो नित्यं स्वप्रकाशं प्रकाशते ।
श्रोतुं बुद्धिसमर्थार्थं निवर्तन्ते गुरोर्गिरः ।
तदभ्यासवशादेकं स्वतो ज्ञानं प्रवर्तते ।।२१५।।

इस प्रकार के अभ्यासी साधक में स्वयं ही ज्ञानोदय हो जाया करता है। उन्हें गुरु द्वारा कथित मार्ग के अनुसरण करने की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। पुनः उसे अन्य प्रकार की बातों में रुचि नहीं रहती। उस विस्मयकारी ज्ञान में उसकी प्रवृत्ति स्वतः ही हो जाती है ॥२१५॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
साधनादमलं ज्ञानं स्वयं स्फुरति तद् ध्रुवम् ।।२१६।।

हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ।
तस्मात् प्रवर्तते योगी हठे सद्गुरुमार्गतः ।।२१७।।

यह ब्रह्म, मन और वाणी से सदा परे होता है। योगसाधन तथा स्वच्छ ज्ञान के द्वारा वह स्वतः ही आलोकित होने लगता है, यह कथन अटल सत्य है। हठयोग के अभाव में राजयोग तथा राजयोग के अभाव में हठयोग की सिद्धि का मिलना असम्भव होता है। अतः साधक को श्रेष्ठ गुरु के उपदेशानुसार हठयोग के मार्ग में अग्रसर होना चाहिए ।।२१६-२१७।।

स्थिते देहे जीवति च योगं न श्रियते भृशम् ।
इन्द्रियार्थोपभोगेषु स जीवति न संशयः ।।२१८।।

जो प्राणी इस देह में वर्तमान रहकर भी योग का आश्रयण नहीं करते वे केवल इन्द्रिय-सुख के उपभोग हेतु ही संसार में जीवित रहा करते हैं। यह बात निःसन्देह रूप से सत्य है कि ऐसे लोग झूठे सुख के मोह में पड़कर सम्पूर्ण जीवन को बेकार बना देते हैं ।।२१८।।

अभ्यासपाकपर्यन्तं मितान्नं स्मरणं भवेत् ।
अन्यथा साधनं धीमान्कर्तुं पारयतीह न ।।२१९।।
अतीव साधुसंलापं साधुसम्मतिबुद्धिमान् ।
करोति पिण्डरक्षार्थं बह्वालापविवर्जितः ।।२२०।।

योगाभ्यास के प्रारम्भिक काल से लेकर योगसिद्धि मिलने तक विचारवान साधक को अल्पाहारी होना चाहिए, क्योंकि अपरिमित आहार से योग साधन सफल नहीं होता। योगसाधन की सफलता हेतु साधक को अल्पाहारी तथा अल्पभाषी होना परम आवश्यक होता है। इसके बिना उसे सिद्धिप्राप्ति से वंचित रह जाना पड़ता हैं।।२१९-२२०।।

त्याज्यते त्यज्यते सङ्गं सर्वथा त्यज्यते भृशम् ।
अन्यथा न लभेन्मुक्तिं सत्यं सत्यं मयोदितम् ।।२२१।।
गुह्यैव क्रियतेऽभ्यासः सङ्गं त्यक्त्वा तदन्तरे ।
व्यवहाराय कर्तव्यो बाह्यसंगो न रागतः ।।२२२।।

योगसाधक के लिए यह आवश्यक है कि वह जन-सम्पर्क से दूर रहकर अल्पभोजी और अल्पभाषी बने। इस आचरण के प्रतिकूल कार्य करने पर उसे मुक्ति नहीं मिल सकती। हे देवी पार्वति ! मैं इस बात को पूर्णरूप से सत्य ही कहता हूँ। उसे संगरहित होकर सुनसान स्थान में अपनी साधना का अभ्यास करना उचित है। उसे संसारी व्यक्तियों से उतना ही व्यवहार रखना चाहिए जितना आवश्यक हो ।।२२१-२२२।।

स्वे स्वे कर्मणि वर्तन्ते सर्वे ते कर्मसम्भवा: ।
निमित्तमात्रं करणे न दोषोऽस्ति कदाचन ।।२२३।।
एवं निश्चित्य सुधिया गृहस्थोऽपि यदा चरेत् ।
तदा सिद्धिमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ।।२२४।।

आश्रमधर्म का पालन करना भी तभी तक उचित कहा गया है जब तक उसकी आवश्यकता बनी रहे। इस प्रकार कर्म के द्वारा सम्भव होने वाले जितने भी ज्ञानादि कर्म हैं, उन्हें केवल निमित्तमात्र समझकर करने वाले को दोष का भागी नहीं बनना पड़ता। यदि कोई गृहस्थाश्रमी स्थिरचित्त से स्वगृह में ही योगसाधना करे तो उसे भी नि:सन्देह रूप से सिद्धि सुलभ हो सकती है। इसमें किसी प्रकार का सोच-विचार करना अनावश्यक होता है ॥२२३-२२४॥

पापपुण्यविनिर्मुक्त: परित्यक्ताङ्गसाधक: ।
यो भवेत्स विमुक्त: स्याद् गृहे तिष्ठन्सदा गृही ।।२२५।।
न पापपुण्यैर्लिप्येत योगयुक्तो यदा गृही ।
कुर्वन्नपि तदा पापान्स्वकार्ये लोकसंग्रहे ।।२२६।।

ऐसा गृहस्थाश्रमी जो पाप-पुण्य से निर्लिप्त रहकर सभी प्रकार के संग-साथ का परित्याग कर देता है वह घर में वास करता हुआ भी पाप-पुण्य के जाल में नहीं फँसता। यदि उस गृहस्थ योगी के द्वारा सांसारिक पदार्थों के संग्रहण में किंचित् पाप भी हो जाय तो भी उस पर पाप की छाया नहीं पड़ती ॥२२५-२२६॥

अधुना संप्रवक्ष्यामि मन्त्रसाधनमुत्तमम् ।
ऐहिकामुष्मिकसुखं येन स्यादविरोधित: ।।२२७।।
यस्मिन्मंत्रवरे ज्ञाते योगसिद्धिर्भवेत् खलु ।
योगेन साधकेन्द्रस्य सर्वैश्वर्यसुखप्रदा ।।२२८।।

शिवजी बोले—हे देवि ! अब मैं ऐसे उत्तम मंत्र साधन का कथन करता हूँ जिसके द्वारा साधक को ऐहिक और पारलौकिक—दोनों सुखों की प्राप्ति एक साथ हो सके। इस सर्वश्रेष्ठ मंत्र का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उसे योगसिद्धि अवश्य ही मिलती है। योग के सहित उसकी साधना करने पर वह सर्वाभीष्ट सुख का दाता होता है ॥२२७-२२८॥

मूलाधारेऽस्ति यत्पद्मं चतुर्दलसमन्वितम् ।
तन्मध्ये वाग्भवं बीजं विस्फुरन्तं तडित्प्रभम् ।।२२९।।
हृदये कामबीजन्तु बन्धूककुसुमप्रभम् ।
आज्ञरविन्दे शक्त्याख्यं चन्द्रकोटिसमप्रभम् ।।२३०।।

चतुर्दल मूलाधार पद्म के मध्य विद्युत्कांति के समान वाग्भवबीज, हृत्कमल में बन्धूक पुष्प (गुलदुपहरिया) के सदृश प्रभायुक्त कामबीज तथा आज्ञाचक्र में शक्तिसंज्ञक

बीज की अवस्थिति रहती है जो करोड़ों चन्द्रमा की ज्योति के समान प्रभावान होता है ॥२२९-२३०॥

बीजत्रयमिदं गोप्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।
एतन्मन्त्रत्रयं योगी साधयेत्सिद्धिसाधकः ।।२३१।।
एतन्मन्त्रं गुरोर्लब्ध्वा न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अक्षराक्षरसन्धानं निःसंदिग्धमना जपेत् ।।२३२।।

उक्त प्रकार के ये तीनों ही बीज परम गोपनीय तथा भोग-मोक्षप्रदायक कहे गये हैं। अतः यह योगियों के लिए साधनीय है। इन तीनों मंत्रों की शिक्षा गुरु से लेकर मंत्रजाप में संलग्न होना चाहिए। मंत्रों का जप द्रुत-विलम्बित (कभी शीघ्र या कभी देर से) रूप से न करके प्रत्येक अक्षरों का स्पष्ट उच्चारण करते हुए स्थिरचित्त से मन्त्रोच्चार करना आवश्यक बतलाया गया है ॥२३१-२३२॥

तद्गतश्चैकचित्तश्च शास्त्रोक्तविधिना सुधीः ।
देव्यास्तु पुरतो लक्षं हुत्वा लक्षत्रयं जपेत् ।।२३३।।
करवीरप्रसूनन्तु गुडक्षीराज्यसंयुतम् ।
कुण्डेयोन्याकृतौधीमान् जपान्तेजुहुयात्सुधीः ।।२३४।।

शास्त्रोक्त विधानानुसार देवी के समक्ष एकाग्रतापूर्वक बैठकर तीन लाख की संख्या में हवन तथा एक लाख मंत्रजाप साधक को करने चाहिए। जपान्त में सुविज्ञ साधक को योनि के आकार का एक कुण्ड बनाकर उसमें करवीर (कनेर, क़नइल) पुष्प के साथ गुड़, दूध और घी मिलाकर अग्नि में आहुति देनी चाहिए ॥२३३-२३४॥

अनुष्ठाने कृते धीमान् पूर्वसेवा कृता भवेत् ।
ततो ददाति कामान्वै देवी त्रिपुरभैरवी ।।२३५।।
गुरुं सन्तोष्य विधिवत् लब्ध्वा मन्त्रवरोत्तमम् ।
अनेन विधिना युक्तो मन्दभाग्योऽपि सिध्यति ।।२३६।।

यदि इस प्रकार प्रज्ञावान साधक अनुष्ठानपूर्वक देवी त्रिपुरसुन्दरी की उपासना करे तो उसे अभीष्ट फल की उपलब्धि होती है। इस सिद्धि-लाभ हेतु पूर्वकथित विधि से गुरु को प्रसन्न करके मंत्रदीक्षा लेनी चाहिए। इस प्रक्रिया को अपनाने वाला मंदभागी साधक भी बड़भागी बनने का गौरव प्राप्त कर लेता है ॥२३५-२३६॥

लक्षमेकं जपेद्यस्तु साधको विजितेन्द्रियः ।
दर्शनात्तस्य क्षुभ्यन्ते योषितो मदनातुराः ।।
पतन्ति साधकस्याग्रे निर्लज्जा भयवर्जिताः ।।२३७।।
जप्तेन च द्विलक्षेण ये यस्मिन्विषये स्थिताः ।
आगच्छन्ति यथा तीर्थं विमुक्तकुलविग्रहाः ।
सर्वस्वं तस्य ददति तस्यैव च वशे स्थिताः ।।२३८।।

इंद्रियनिग्रहपूर्वक एक लाख जप पूर्ण करने वाले साधक के दर्शनमात्र से ही कामातुरा नारियाँ लज्जाविहीन एवं निर्भय होकर साधक के समक्ष अवनत हो जाया करती हैं। इस मंत्रजाप को दो लाख की संख्या में पूरा करने वाले जापक के निकट कुलांगनाएँ भी उसी प्रकार गमन करती हं जिस प्रकार वे किसी तीर्थस्थान में निःसंकोच भाव से करती हैं। अर्थात् ऐसी नारियाँ भी उस साधक को अपना सर्वस्व लुटा देती हैं ॥२३७-२३८॥

त्रिभिर्लक्षैस्तथा जप्तैर्मण्डलीकं समण्डलम् ।
वशमायान्ति ते सर्वे नात्र कार्या विचारणा ।।
षड्भिर्लक्षैर्महीपालं सभृत्यबलवाहनम् ।।२३९।।

जो मंत्रजापक इसका तीन लाख जप कर लेता है उसके सामने मंडलाधिपति राजा भी नतमस्तक होकर उसके अधीन हो जाया करते हैं। छह लाख जप पूर्ण कर लेने पर वह स्वयं ही बल, वाहन और सेनाओं से युक्त भूमिपति बन जाता है ॥२३९॥

लक्षैर्द्वादशभिर्जप्तैर्यक्षरक्षोरगेश्वराः ।
वशमायान्ति ते सर्वे आज्ञां कुर्वन्ति नित्यशः ।।२४०।।
त्रिपञ्चलक्षजप्तैस्तु साधकेन्द्रस्य धीमतः ।
सिद्धिविद्याधराश्चैव गन्धर्वाप्सरसाङ्गणाः ।।२४१।।

इस मंत्र के बारह लाख जप कर लेने के पश्चात् यक्ष, राक्षस तथा नागादि सभी जीव सदा ही उसके आदेश का अनुपालन किया करते हैं। साधक के पन्द्रह लाख जप कर लेने पर सिद्ध, विद्याधर, गंधर्व (देवगायक) और अप्सरा (देव नृत्यांगना) आदि सभी प्राणी उसके अनुगामी बन जाते हैं। यह बात निःसन्देह रूप से सत्य कही गयी है ॥२४०-२४१॥

वशमायान्ति ते सर्वे नात्र कार्या विचारणा ।
हठात् श्रवणविज्ञानं सर्वज्ञत्वं प्रजायते ।।२४२।।
तथाष्टादशभिर्लक्षैर्देहेनानेन साधकः ।
उत्तिष्ठेन्मेदिनीं त्यक्त्वा दिव्यदेहस्तु जायते ।
भ्रमते स्वेच्छया लोके छिद्रां पश्यति मेदिनीम् ।।२४३।।

हठयोगी को विशिष्ट प्रकार की श्रवण-शक्ति तथा सर्वज्ञान की शक्ति मिलती है। अर्थात् उसमें सूक्ष्मतम शब्दों के सुनने की तथा सूक्ष्म वस्तुओं के ज्ञान की शक्ति आ जाती है। उक्त कथित विधि से अट्ठारह लाख मंत्रजाप करने वाले साधक में देह की दिव्यता आ जाती है। वह भूमि से ऊपर उठकर इच्छानुसार आकाश में चक्कर लगा सकता है। वह भूमि-विवर का अवलोकन करने में भी सक्षम हो जाता है। आशय यह है कि वह पाताल-प्रवेश के मार्गों को देखने की क्षमता पा लेता है ॥२४२-२४३॥

शिवसंहिता की फलोपलब्धि का वर्णन

अष्टाविंशतिभिर्लक्षैर्विद्याधरपतिर्भवेत् ।
साधकस्तु भवेद्धीमान्कामरूपो महाबलः ।।२४४।।
त्रिंशल्लक्षैस्तथा जप्तैर्ब्रह्मविष्णुसमो भवेत् ।
रुद्रत्वं षष्टिभिर्लक्षैरमरत्वमशीतिभिः ।।२४५।।
कोट्यैकया महायोगी लीयते परमे पदे ।
साधकस्तु भवेद्योगी त्रैलोक्ये सोऽतिदुर्लभः ।।२४६।।

यदि प्रबुद्ध साधक उक्त मंत्र का अट्ठाइस लाख जप कर ले तो वह महाबली, कामदेव के समान रूपवान तथा विद्याधरों का अधिपति बन जाता है । तीस लाख जप करने के पश्चात् वह सृष्टिकर्ता ब्रह्मा तथा पालनकर्ता विष्णु के समान हो जाता है । साठ लाख जप करने के बाद रुद्रत्व तथा अस्सी लाख जप करने पर वह सर्वभूतों का प्रियभाजन बनकर अमरता पा लेता है । एक करोड़ का मंत्रजापक परमपद में विलीन हो जाया करता है । किन्तु इस प्रकार की साधना सम्पन्न करने वाले साधक तीनों भुवनों में बिरले ही हुआ करते हैं ।।२४४-२४६।।

त्रिपुरे त्रिपुरन्त्वेकं शिवं परमकारणम् ।
अक्षयं तत्पदं शान्तमप्रमेयमनामयम् ।।२४७।।
लभतेऽसौ न सन्देहो धीमान् सर्वमभीप्सितम् ।
शिवविद्या महाविद्या गुप्ता चाग्रे महेश्वरि ।।२४८।।

हे पार्वति ! त्रिपुररूप शिव ही परम कारण है । उनका चरणारबिन्द क्षयरहित, शान्तिकारक, प्रमाणरहित तथा रोगरहित है । उनकी प्राप्ति केवल योगियों के लिए सुलभ होती है । सभी मनोरथों की पूर्ति करने वाली शिवविद्या ही महाविद्या कही जाती है । हे महेश्वरि यह अत्यन्त श्रेष्ठ और गोपनीय विद्या है ।।२४७-२४८।।

मद्भाषितमिदं शास्त्रं गोपनीयमतो बुधैः ।
हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ।।२४९।।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या च प्रकाशिता ।
य इदं पठते नित्यमाद्योपान्तं विचक्षणः ।।२५०।।
योगसिद्धिर्भवेत्तस्य क्रमेणैव न संशयः ।
स मोक्षं लभते धीमान् य इदं नित्यमर्चयेत् ।।२५१।।

शिवजी बोले—हे देवि ! मेरे द्वारा कथित यह शास्त्र परम गोपनीय है । इसे विद्वान सदैव गुप्त ही रखते हैं । सिद्धाभिलाषी साधकों के लिए यह परमावश्यक है कि वे इसे किसी के समक्ष प्रकट न करें । विद्या को गुप्त रखने से वह फलवती तथा प्रकटन से फलविहीन हो जाती है । इस शास्त्र का नित्यप्रति आद्योपान्त पाठ करने वाले सुविज्ञ साधकों में शनैः शनैः योग की सिद्धि प्राप्त हो जाती है । इस ग्रन्थ का

नित्य पूजन करने वाला बुद्धिमान पुरुष अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है ॥२४९-२५१॥

मोक्षार्थिभ्यश्च सर्वेभ्यः साधुभ्यः श्रावयेदपि ।
क्रियायुक्तस्यसिद्धिः स्यादक्रियस्यकथम्भवेत् ।।२५२।।
तस्मात् क्रियाविधानेन कर्तव्या योगपुङ्गवैः ।
यदृच्छालाभसन्तुष्टः सन्त्यक्तान्तरसंगकः ।।२५३।।

इसके द्वारा सभी मोक्षार्थियों, सज्जनों, श्रवण करने वालों तथा क्रियाशील मनुष्यों को निश्चय ही सिद्धि मिलती है, किन्तु निश्चेष्ट और निष्क्रिय व्यक्ति के लिए किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? विधिपूर्वक किये जाने वाले सत्कर्म से अभीप्सित फल की प्राप्ति सम्भव होती है। इसके अनुष्ठानकर्ता को कभी इन्द्रियासक्त नहीं होना चाहिए ॥२५२-२५३॥

गृहस्थश्चाप्यनासक्तः स मुक्तो योगसाधनात् ।
गृहस्थानां भवेत् सिद्धिरीश्वराणां जपेन वै
योगक्रियाभियुक्तानां तस्मात्संयतते गृही ।।२५४।।

विषयासक्ति से दूर रहने वाला गृहस्थाश्रमी योगसाधन द्वारा विमुक्त हो जाता है। इसकी साधना गृहस्थों के लिए सिद्धिदायक होती है। अतः सभी गृहस्थाश्रमी को मंत्रजाप के सहित इसकी साधना निष्पन्न करनी चाहिए ॥२५४॥

गेहे स्थित्वा पुत्रदारादिपूर्णः सङ्गं त्यक्त्वा चान्तरे योगमार्गे ।
सिद्धे चिह्नं वीक्ष्य पश्चाद्गृहस्थः क्रीडेत्सं वै सम्मतं साधयित्वा ।।२५५।।

यदि स्त्री-पुत्रादि से युक्त गृहस्थाश्रमी संसर्ग का परित्यागकर भोगपथ में प्रवृत्त हो जाय तो उसमें भी सिद्धि के लक्षण भासित होने लगते तथा वह सदैव आनंदित रहकर क्रीड़ाशील रहा करता है। आशय यह है कि योगाभ्यासी को सर्वदा निःसंग रहकर जीवन-यापन करना उचित है ॥२५५॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे योगप्रकरणे नाम पञ्चमः पटलः सम्पूर्णम् ॥५॥

इस प्रकार श्रीशिवसंहिता के अन्तर्गत योगप्रकरण नामक पाँचवें पटल की पं० हरिहरप्रसाद त्रिपाठीकृत हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥५॥

■■■

शिव संहिता

प्राचीन यौगिक ग्रन्थों के अन्तर्गत 'शिव संहिता' का भी अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है। इसमें योगसाधना की दश प्रमुख मुद्राओं का वर्णन सरल हिन्दी में विस्तारपूर्वक किया गया है। इसके द्वारा योग-जिज्ञासुओं की जिज्ञासा-पूर्ति समुचित रूप से हो सकती है। इस ग्रन्थ में कुल पाँच पटल दिये गये हैं जिसमें प्रथम पटल में आत्मा का लयत्व वर्णन, द्वितीय पटल में तत्त्वज्ञानोपदेश, तृतीय पदल में योगाभ्यास कथन, चतुर्थ पटल में मुद्रावर्णन और पंचम पटल में योगसाधना कथन नामक शीर्षक से योग साधक के सभी विघ्नों का विस्तृत निरूपण किया गया है। अतः योगसाधकों के लिए यह पुस्तक सभी दृष्टियों से परमोपयोगी सिद्ध होगी। ग्रन्थोक्त विधियों का अनुपालन करने से योगाभ्यासी निश्चय ही अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल हो सकता है।

ISBN : 81-218-0211-3 Price : Rs. 60.00

designed by Shreyashi GRAPHICS, mo. 9839814784